*सम्पादकीय...*

# विश्वव्यापी आर्थिक संकट

# मर्ज बढ़ता गया ज्यों-ज्यों दवा की

आज पूरी दुनिया बेहद मुश्किल दौर से गुजर रही है। अब से 20-25 वर्ष पहले विश्व पूँजीवाद के कर्ताधर्ताओं ने 'वाशिंगटन आम सहमति' के तहत नयी आर्थिक विश्व व्यवस्था का जो जहरीला पेड़ लगाया था, उसका फल आज पूरी दुनिया की जनता को भोगना पड़ रहा है। हाल फिलहाल देश-दुनिया म. जो खास घटनाएँ हुईं, उन पर सरसरी नजर डालना ही इस सच्चाई को समझने के लिए काफी है।

## दुनिया की तस्वीर पर एक नजर

2006-07 म. अमरीकी गृह ऋण संकट का जो भूचाल आया था, वह आज तक थमा नहीं है, बल्कि पूरी दुनिया को अपनी चपेट म. ले चुका है। इस संकट के कारण अनुमानतः 40,000 अरब डालर की सम्पत्ति का नाश हुआ था जो दुनिया के कुल सालाना उत्पादन का 45 फीसदी है। यही नहीं, इस संकट के प्रभाव म. आकार आयरलैंड, यूनान, स्पेन, पुर्तगाल और इटली समेत यूरोप की कई अर्थव्यवस्थाएँ तबाह हो गयीं और जो बची रहीं, वहाँ भी संकट का काफी गहरा असर हुआ।

दुनिया का विकास दर पिछले वर्ष 2 फीसदी के करीब रहा। अधिकांश विकसित पूँजीवादी देशों की विकास दर एक फीसदी से भी कम रही, जबकि इटली, पुर्तगाल और यूनान सहित कई यूरोपीय देशों की विकास दर ऋणात्मक हो गयी है।

विश्व व्यापार का विकास दर भी पिछले 20 वर्षों के औसत 5.3 फीसदी से गिर कर 2 फीसदी पर आ गयी। इसम. भी विकसित देशों के औसत सालाना व्यापार की वृद्धि 1.4 फीसदी पर अटकी हुई है।

वित्तीय पूँजी के वर्चस्व वाले मौजूदा दौर म. वित्तीय परिसम्पत्तियों की वृद्धि भी ठहरी हुई है। 183 देशों के आकडों के आधार पर किया गया मैकिन्से ग्लोबल इंस्टीट्यूट का एक अध्ययन बताता है कि 2007 तक दुनिया भर म. वित्तीय संपत्तियों म. 8 फीसदी वृद्धि हो रही थी जो अब 2 फीसदी से भी कम रह गयी है। देश की सीमाओं के आर-पार होने वाला पूँजी प्रवाह 2007 से पहले 11,800 अरब डॉलर था जो 2007 म. 2,200 अरब डॉलर रह गया। आर्थिक संकट शुरू होने के 5 साल बाद भी यह 4,600 अरब तक ही पहुँच पाया जो 2007 से पहले की तुलना म. लगभग 60 फीसदी कम है। इसम. 50 फीसदी गिरावट यूरोपीय देशों म. हुई वित्तीय तबाही के चलते आयी है।

अधिकांश विकसित देशों म. बेरोजगारी की दर 10 फीसदी से ऊपर है जबकि स्पेन और यूनान म. 27 फीसदी और आयरलैंड म. 14.7 फीसदी कामगार बेरोजगार हैं। चूँकि नये रोजगार पैदा नहीं हो रहे हैं, इसलिए नौजवानों म. बेरोजगारी की दर सबसे ज्यादा है। अमरीका म. 18 फीसदी युवक और 27 फीसदी युवतियाँ बेरोजगारों की फ़ौज म. शामिल हैं। मतलब यह कि विकसित देशों म. आबादी का एक बड़ा हिस्सा दर-दर की ठोकर खाने को मजबूर हुआ है।

आर्थिक संकट की मार से तबाह हुए लोगों म. असंतोष, क्षोभ और आक्रोश का पारा चढ़ना भी लाजमी है। आर्थिक संकट से तबाह देशों की सरकारों ने पूँजीपतियों को आर्थिक संकट से उबारने के लिए सरकारी खजाने से अरबों-खरबों उलीच दिये। दूसरी ओर, बजट घाटा कम करने के बहाने जनता पर किये जाने वाले सरकारी खर्चों म. भारी कटौती की गयी। जरूरी सार्वजनिक सेवाओं और वेतन भत्तों म. कटौती के खिलाफ फ्रांस, ब्रिटेन, यूनान, इटली, स्पेन और आयरलैंड सहित कई यूरोपीय देशों म. उग्र प्रदर्शन हुए। अमरीका म. पूँजीपतियों द्वारा बेलगाम लूट के खिलाफ 'वाल स्ट्रीट पर कब्जा करो' आंदोलन शुरू हुआ जो दुनिया के दूसरे हिस्सों म. भी फ़ैल गया।

तमाम उपायों के बावजूद यह आर्थिक संकट टलने का नाम नहीं ले रहा है। दुनिया के कई जाने माने अर्थशास्त्रियों का मानना है कि अगर कृत्रिम उपायों और तीन तिकड़म से यह संकट कुछ समय के लिए टाल भी दिया जाता है, तो आने वाले दिनों म. और भी बड़े पैमाने का संकट फूट पड़ना तय है।

## भारत के हालात पर एक सरसरी नजर

विकास दर के जिस भ्रामक पैमाने को सरकार वर्षों से देश की तरक्की और अपनी नीतियों की सफलता का आईना बताती आ रही थी, वह पिछले वर्ष चकनाचूर हो गया। देश-विदेश की कई संस्थाओं और क्रेडिट रेटिंग एज.सियों ने विकास दर म. भारी गिरावट के आँकड़े प्रस्तुत किये, जिन्ह. सरकार ने स्वीकार नहीं किया। आखिरकार जब केन्द्रीय

सांख्यिकी संगठन ने भी इस सम्बन्ध म. आँकड़े दिये तो झक्क मार कर सरकार को सच्चाई स्वीकारनी पड़ी। एक समय 10.2 फीसदी की ऊँचाई तक पहुँचा विकास दर पिछले साल 4.5 फीसदी पर सिमट गया। सांख्यिकी संगठन ने विकास दर गिरने का असली कारण निजी पूँजीपतियों द्वारा अर्थव्यवस्था म. निवेश न करना बताया। सरकार से लाखों करोड़ की कर रियायत पाकर और विदेशों से कर्ज लेकर यहाँ के पूँजीपती सूदखोरी और सट्टेबाजी म. पैसा लगाते हैं। लेकिन जब सरकार खुद ही सट्टेबाजी को अर्थव्यवस्था के मजबूत होने की निशानी मानती है, तो भला उसे इसम. क्या एतराज हो सकता है।

विकास दर को ऊँचा उठाने के लिए योजना आयोग ने बारहवीं पंचवर्षी योजना म. जो उपाय किये हैं, वे ध्यान देने योग्य हैं। इस योजना के दस्तावेज म. कहा गया है कि -''योजना के पहले साल म. ही तात्कालिक नीतिगत उद्देश्य पाशविक भावना को फिर से जगाना है, जिसम. कई वजहों से काफी कमी आयी है। निवेशकों की भावना म. गिरावट के कारणों म. से कुछ को आसानी से ठीक किया जा सकता है। उदाहरण के लिए निवेशकों के बीच यह धारणा कि बजट भाषण म. घुसाया गया टैक्स म. बदलाव का सुझाव निवेशकों के खिलाफ है, इसका जितनी जल्दी हो सके शमन करना जरूरी है।''

यह सही है कि पिछले साल की बजट म. तात्कालीन वित्त मंत्री प्रणब मुखर्जी ने टैक्स बचाने (चुराने) के रास्ते बंद करने और पूँजीगत लाभ पर टैक्स लगाने की बात कही थी, लेकिन उसे आज तक लागू नहीं किया गया। दूसरे, सरकार ने पूँजीपतियों को पिछले सात वर्षों म. विभिन्न प्रकार के टैक्सों म. छुट के जरिये लगभग 31,11,000 करोड़ का लाभ पहुँचाया। इसके बावजूद यदि देशी-विदेशी पूँजीपति निवेश करने को तैयार नहीं हैं तो सरकार उन पर अब और कितना धन लुटायेगी?

विकास दर म. गिरावट के लिए वैश्वीकरण, उदारीकरण और निजीकरण की नीतियों को जिम्मेदार मानने की जगह सरकार ने उल्टे इन्हीं नीतियों को कड़ाई से लागू न किये जाने को जिम्मेदार ठहराया। इसी कमी को दूर करने और 'पाशविक भावना' को बढ़ाने के लिए पेट्रोलियम पदार्थों पर से नियंत्रण हटाने, खुदरा व्यापार म. विदेशी निवेश की इजाजत दी तथा बैंक नीति म. ढील देने, उद्योगपतियों और बिल्डरों को सस्ते दर पर जमीन और कम ब्याज पर सरकारी कर्ज मुहैया कराने जैसी ढेर सारी सहूलियत. दीं। हाल ही म. चीनी मीलों को नियंत्रण मुक्त करना भी इसी तरह का कदम है। दूसरी ओर इसी 'पाशविक भावना' को बढ़ाने के लिए बजट मितव्ययिता के नाम पर जनता की जरूरतों म. 90,000 करोड़ की कटौती की गयी। सरकार उसी 'पाशविक भावना' को पुनर्जीवित करने जा रही है जिसके तहत अब तक देशी-विदेशी पूँजीपतियों को प्राकृतिक संसाधनों की बेलगाम लूट की इजाजत देती रही, इसके लिए हजारों वर्षों से आबाद लोगों को उजाड़ती रही और विरोध करने वालों को विकास-विरोधी और देशद्रोही कहकर उनका बर्बर दमन करती रही है। जगतसिंहपुर से नियामगिरी तक, कुड़ानकुलम से गोरखपुर(हरियाणा) तक, विदेशी पूँजी के पक्ष म. सरकार जिस तरह साम-दाम-दंड-भेद की नीति अपनाती रही, उसने फिरंगी शासकों को भी पीछे छोड़ दिया। निजी पूँजीपतियों के लिए पूँजी जुटाने (आदिम पूँजी संचय) म. निर्ल्लजतापूर्वक साथ देने के बावजूद अभी तक न तो निवेश म. कोई गुणात्मक छलांग लगायी और न ही विकास दर म. उछाल आने की कोई संभावना है।

भ्रष्टाचार और घोटालों के रोज नए-नए अध्याय खुल रहे हैं, जिनम. सबसे ताजा है वीआईपी हेलिकॉप्टर की खरीद म. 367 करोड़ की घूस। भ्रष्टाचार और घोटालों से पैदा हुए अपार काले धन को जमा करने के लिए अब किसी को स्विटजरलैंड और सिंगापुर जाने की भी जरूरत नहीं। हाल ही म. एक स्टिंग ऑपेरशन म. पता चला कि तीन बड़े निजी बैंक -आईसीआईसीआई, एचडीएफसी और एपक्स बैंक ने देश के भीतर ही काली कमाई को सफेद करने का धंधा शुरू कर दिया है।

हर थोड़े दिनों बाद किसी चिट फंड कम्पनी या निवेश कम्पनी के डूबने की खबर आती रहती है। सहारा ग्रुप की दो कम्पनियों को सर्वोच्च न्यायालय ने जमाकर्ताओं के 24,400 करोड़ रुपये वापस करने का आदेश अगस्त 2012 म. ही दिये थे। इस आदेश को पालन करवाने म. नियामक संस्था सेबी अब तक नाकाम रही। अंततः उसने कम्पनी और उसके मालिकों की सम्पत्ति कुर्क करने का आदेश दिया। हाल ही म. सर्वोच्च न्यायालय ने कहा कि यह कम्पनी न्यायालय को लगातार धोखा देती आ रही है। इस कम्पनी की शुरुआत 2,000 रुपये की पूँजी से कुछ ही साल पहले हुई थी और आज इस ग्रुप म. मीडिया, रियल इस्टेट, फायनांस, क्रिकेट टीम से लेकर अथाह सम्पत्ति वाली अनेक कम्पनियाँ हैं। पश्चिम बंगाल की शारदा चिट फंड कम्पनी हाल ही म. डूब गयी और उसी के साथ जमाकर्ताओं के हजारों करोड़ रुपये भी डूब गये। ममता बनर्जी ने इस कम्पनी को उबारने के लिए 500 करोड़ रुपये का विशेष कोष बनाया है। इसके लिए बीड़ी-तम्बाकू पर कर बढ़ा कर जनता से धन उगाही की जायेगी। उस कम्पनी के मालिक ने जेल से चिठ्ठी लिख कर तृणमूल काँग्रेस के कई लोगों को इस घपले म. लिप्त

होने का पर्दाफाश किया। इसी के आधार पर पुलिस ने तृणमूल के एक बड़े नेता के खिलाफ प्राथमिकी दर्ज की है।

पूँजीवाद के नग्न और निर्ल्लज लूट की 'पाशविक भावना' को बढ़ावा देने का ही नतीजा है कि हमारे देश म. 42,800 लोगों की सालाना कमाई एक करोड़ रुपये से अधिक है। फोर्ब्स 2013 के अरबपतियों की सूची म. 55 भारतीयों के नाम हैं। अरबपतियों की संख्या म. भारत का विश्व म. 5वाँ स्थान है। लेकिन इसी असमान बँटवारे का नतीजा है कि भारत म. 77 फीसदी लोग 20 रुपये रोज पर गुजारा करते हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ के मानव विकास सूचकांक के मामले म. भारत 136व. स्थान पर है, जिसका मतलब है बहुसंख्य जनता की कंगाली, बदहाली, कुपोषण, भूख और बीमारी।

विषमता की इस विराट खाई ने भारतीय समाज म. एक तरफ मुठ्ठी भर लोगों के लिए स्वर्ग, तो दूसरी तरफ बहुसंख्य जनता के लिए नरक से भी बदतर जिंदगी की रचना की है। सामाजिक ताना-बाना छिन्न-भिन्न हो रहा है। अपराध अपने चरम पर है। औरतों, दलितों और अन्य शोषित-पीड़ित तबकों के प्रति हिंसा और बर्बरता बढ़ रही है। हर जगह अन्याय, अराजकता और अव्यवस्था का बोलबाला है।

इन दारुण स्थितियों के खिलाफ जगह-जगह संगठित-असंगठित आंदोलन फूट रहे हैं। 20-21 फरवरी को देश भर के प्रमुख ट्रेड यूनियनों के आह्वान पर दो दिवसीय देशव्यापी हड़ताल काफी सफल रहा। कोई ऐसा दिन नहीं गुजरता, जब देश के कई कोने म. जनविरोधी नीतियों के खिलाफ लोगों का आक्रोश उग्र रूप म. फूट पड़ने की खबर न आती हो।

## इन सच्चाइयों की शिनाख्त कैसे करें

देश-विदेश की जिन घटनाओं का यहाँ हवाला दिया गया, क्या वे अलग-अलग घटनाएँ हैं या इनके बीच कोई तारतम्य है? 1990 के पहले, हालाँकि हमारे देश म. शोषण-उत्पीड़न का ही राज कायम था, लेकिन तब और आज के हालात म. कोई अंतर आया है या नहीं? क्या उस दौर म. देशी-विदेशी पूँजी को लूट की ऐसी ही छूट हासिल थी? क्या सरकार इतनी बेहयाई और 'पाशविक भावना' के साथ पूँजीपतियों की हिमायत करती थी?

हमारी वर्तमान युवा पीढ़ी के लिए इन सवालों को समझना कठिन है। इसीलिए पढ़े-लिखे, मध्यवर्गीय युवक-युवतियों को सरकार की जनविरोधी नीतियाँ और उसके दुष्परिणाम एकदम स्वाभाविक और अपरिहार्य लगते हैं। कारण यह कि वे 1990 के बाद बनने वाले आर्थिक-सामाजिक परिवेश म. ही पले-बढे हैं और प्रत्यक्ष रूप म. उन्ह. उसी का अनुभव है। उन्ह. निजी स्कूलों-कालेजों की चमक-दमक और उनकी दिनों-दिन बढ़ती संख्या तो दिखती है, लेकिन उन्ह. यह नहीं पता कि जिन व्यावसायिक पाठ्यक्रमों के लिए उन्हें 5 से 10 लाख रुपये तक खर्च करने पड़ रहे हैं, निजीकरण से पहले वे लगभग मुफ्त हुआ करते थे। उस दौर में सामाजिक सेवाओं की हालत खस्ता थी, लेकिन अमीर-गरीब के जीवन म. सुविधाओं की इतनी बड़ी खाई नहीं थी। थोड़े से अभिजात वर्ग को उस समय भी विशेषाधिकार हासिल थे, लेकिन अधिकांश जनता के लिए सुविधाएँ और समस्याएँ काफी हद तक एक जैसी थीं, चाहे स्कूल-कालेज हों, अस्पताल हों, यातायात के साधन हों या दूसरी सरकारी सेवाएँ, इनम. उन्नीस-बीस का फर्क था, जमीन आसमान का नहीं।

वर्तमान समस्याओं की सही समझ न होने का एक कारण यह भी है कि 1991 म. नयी आर्थिक नीति लागू होने के बाद से ही देश के शासक और उनकी हाँ म. हाँ मिलाने वाली मुख्यधारा की मीडिया दिन-रात इन जन विरोधी नीतियों के लाभ गिनाने और उन्ह. अपरिहार्य बताने म. लगी रहीं। आलोचना करने वाले भी अंततः यही नतीजा निकालते रहे हैं कि चाहे जैसी भी हों, इन नीतिओं का कोई विकल्प नहीं है। पक्ष-विपक्ष की सभी पार्टियाँ, चाहे केन्द्र या राज्यों म. सरकार चला रही हों या विपक्ष म. बैठती हों, सब की इन नीतियों पर आम सहमती रही है। कोई भी पार्टी इन नीतियों के औचित्य पर कोई सवाल नहीं उठाती। उनम. अगर कोई मतभेद है, तो इन्हें लागू करने के तौर-तरीकों और रफ्तार पर। अगर उनके बीच नोंक-झोंक होती है तो इन नीतियों के घातक नतीजों की जिम्मेदारी अपने विरोधी पर थोप कर खुद पाक-साफ बने रहने को लेकर।

इन नीतियों का सबसे मुखर और सक्रीय विरोध करने वाले गैर सरकारी संगठन (एनजीओ) भी इन नीतियों के दुष्परिणामों को कम करने और घाव पर मरहम लगाने का ही काम करते हैं। प्रायोजित आन्दोलनों और कानूनी लड़ाइयों के जरिये लोगों को कुछ टुकड़े या आश्वासन दिला कर जनाक्रोश को ठंडा करना ही उनका उद्देश्य है। इन नीतियों के साथ ही एनजीओ की संख्या म. भी बेहिसाब बढ़ोत्तरी हुई है। आज यह एक अच्छे खासे व्यवसाय का रूप ले चुका है, जिसके लिए विशेष पाठ्यक्रम भी शुरू हो गये हैं। शिक्षित मध्यवर्गीय युवकों पर समाज सेवा म. लगे इन रंगे सियारों का अच्छा खासा प्रभाव है, क्योंकि इनकी भाषा काफी गरमागरम होती है और व्यवहार म. जोखिम की जगह अच्छी कमाई का मौका।

जिन संगठनों ने इन नीतियों की लगातार सही आलोचना प्रस्तुत की और सही अवस्थिति के साथ इनका विरोध किया,

वे भी जनता के बड़े हिस्से को प्रभावित नहीं जमा पाये हैं। लेकिन जहाँ-जहाँ तक उनकी आवाज पहुँची, वहाँ लोगों को नीतियों की असलियत का पता चला है।

इसम. कोई दो राय नहीं कि आज की दुनिया को संचालित करने वाली आर्थिक-राजनीति विचारधारा और रणनीति को समग्रता म. सही ढंग से समझे बिना इन छोटी-छोटी घटनाओं को समझना और उनके खिलाफ कोई भी संघर्ष चलाकर जीत हासिल करना सम्भव ही नहीं है।

## पूँजीवादी लूट की नयी रणनीति : नवउदारवाद

दुनिया की अर्थव्यवस्थाएँ आज जिस विचारधारा के द्वारा संचालित हो रही हैं उसे नवउदारवाद का नाम दिया गया है। इसका मूल मन्त्र है --सभी सामाजिक-राजनीतिक फैसले बाजार करे, राज्य का इसम. कोई हस्तक्षेप न हो, यानी नीतिगत मामलों म. उसकी भूमिका बहुत ही सीमित हो, बहुराष्ट्रीय और राष्ट्रीय निगमों, पूँजी प्रतिष्ठानों और वित्तीय संस्थानों पर कोई नियंत्रण न हो, ट्रेड यूनियनों पर अंकुश रखा जाय, श्रम कानूनों को ढीला कर दिया जाय, सार्वजनिक सेवाओं म. कटौती की जाय और जनता के लिए सामाजिक सुरक्षा नाममात्र की हो। संक्षेप म. कह. तो इसका यही मतलब है कि पूँजी की लूट-खसोट और निर्मम शोषण पर किसी भी तरह का नियंत्रण न रहे। पूँजीवादी वैश्वीकरण और उदारीकरण के धर्म प्रचारकों का कहना था कि बाजार के उतार-चढ़ाव, अस्थिरता और समय-समय पर आने वाले विकराल आर्थिक संकटों का एकमात्र हल यही है कि अर्थव्यवस्था को राजनीति से आजाद कर दिया जाय, बाजार को सर्वसत्तासम्पन्न बना दिया जाय। उनका दावा था कि इससे स्थिरता के एक नये युग की शुरुआत होगी, जबकि नवउदारवादी नीतियों को लागू किये जाने के बाद से ही पूरी दुनिया म. संकटों का आना लगातार जारी रहा, चाहे जापान, रूस, अर्जन्टीन, और पूर्वी एशियाई देश हों या अमरीका और यूरोप।

दरअसल नवउदारवाद, पूँजीवाद की मरणासन अवस्था --साम्राज्यवाद को बचाने के लिए जो नाना प्रकार के उपचार लगातार होते रहे हैं, उन्हीं म. से एक और नयी रणनीति है। यह पूँजीवादी संकट से उत्पन्न हुआ है और इसका उद्देश्य संकट को टालना भर है। ज्यों-ज्यों इसके नतीजे सामने आते गये, अधिकांश लोगों के आगे इसके दावों की पोल खुलती गयी, हालाँकि इतिहास की गति और पूँजीवाद की कार्यप्रणाली की थोड़ी भी समझ रखने वाले लोगों को पहले से ही इसकी हकीकत का पता था। इसीलिए नवउदारवाद जैसी खूबसूरत शब्दावली की जगह इसके आलोचकों ने इसे कई नाम दिये-- अल्पतंत्र, धनिकतंत्र, चोरतंत्र, नंगा पूँजीवाद, लुटेरा पूँजीवाद, हिंसक पूँजीवाद, नरभक्षी पूँजीवाद इत्यादि। इसके कारनामों और दुष्परिणामों को देखते हुए ये शब्द बिल्कुल सटीक लगते हैं।

नवउदारवाद की शुरुआत 80 के दशक में अमरीकी राष्ट्रपति रोनाल्ड रीगन और ब्रिटिश प्रधान मंत्री मार्ग्रेट थैचर ने लगभग एक ही समय की थी। यह वही दौर था जब साम्राज्यवाद के इन गढ़ों में पूँजी का विस्तार लगभग ठहर चुका था। रीगन और थैचर ने अपने-अपने देशों में बहुराष्ट्रीय निगमों और वित्तपतियों को लूट की खुली छूट दी, उनके लिए सरकारी सहूलियतें बढ़ायी और श्रमिकों के वेतन-भत्तों और सेवा शर्तों में भारी कटौती की। दूसरी ओर 1930 की महामंदी के बाद से चले आ रहे कीन्सवादी कल्याणकारी कार्यक्रमों और सार्वजनिक सेवाओं के मद में सरकारी खर्च काफी कम कर दिया। शिक्षा-स्वास्थ्य इत्यादि का निजीकरण करके उसे मुनाफे के लिए खोल दिया गया। हालाँकि शुरू से ही इन नीतियों का काफी तीखा विरोध हुआ, लेकिन अमरीकी और ब्रिटिश हुकूमतें टस से मस नहीं हुईं। इन सारी करवाईयों को नवउदारवाद के नाम पर अर्थशास्त्रियों ने महिमामंडित किया और इसे वक्त की माँग बताया।

1980 के दशक में विश्व बैंक और अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोश ने अपने कर्ज के जाल में फँसे 70 से भी अधिक देशों पर ढाँचागत समायोजन कार्यक्रम थोपा। इसके नुस्खे लगभग वही थे जो रीगन और थैचर ने पहले ही आजमाये थे। तीसरी दुनिया के इन नवस्वाधीन देशों में पहले संरक्षणवादी नीतियाँ लागू थीं। सम्राज्यवादी पूँजी और विदेशी माल से अपनी अर्थव्यवस्थाओं को बचाने के लिए उन पर तरह-तरह से रोक लगायी गयी थी। साथ ही अर्थव्यवस्था में राज्य का हस्तक्षेप भी काफी अधिक था। इन सभी अवरोधों को हटा कर विश्व बैंक-मुद्राकोष ने इन देशों के अर्थतंत्र को साम्राज्यवादी पूँजी की लूट के अनुकूल बनाया। वास्तव में यह उन देशों को एक नये तरह का उपनिवेश बनाने की दिशा में उठाया गया कदम था, जिसमें फौज-फाटे की जगह आर्थिक कारकों की प्रधानता थी। भावी वैश्वीकरण के लिए इस ढाँचागत समायोजन ने पूर्वाधार का काम किया।

1990 के आसपास रूस और पूर्वी युरोप के देशों में राजनीतिक उथल-पुथल तथा रूस खेमे में बिखराव से दुनिया के शक्ति संतुलन में भारी बदलाव आया। एक ध्रुवीय विश्व में अमरीकी चौधराहट वाले विश्व पूँजीवाद का वर्चस्व कायम

हुआ। 'वाशिंगटन आम सहमति' के तहत पूरी दुनिया में साम्राज्यवादी वैश्वीकरण की मुहिम चलायी गयी। इसको संचालित करने वाली विचारधारा के रूप में उसी नवउदारवाद को अंगीकार किया गया, जिसकी लाक्षणिक विशेषताओं के बारे में पहले चर्चा की गयी है और जिसके नतीजे अब खुल कर सामने आ गये हैं। साम्राज्यवादी स्वार्थों के अनुरूप दुनिया के पुनर्गठन का जिम्मा पहले विश्व बैंक-मुद्राकोष और आगे चलकर डंकल प्रस्ताव के आधार पर बने विश्व व्यापार संगठन को सौंपा गया। वैश्वीकरण, उदारीकरण और निजीकरण दुनिया भर में पूँजीवादी शासकों का नया मंत्र बन गया। 'विचारधारा का अंत', 'समाजवाद का अंत', 'पूँजीवाद का कोई विकल्प नहीं', 'स्थायित्व अैर शान्ति के युग की शुरुआत' जैसे अनर्गल प्रलाप किये गये जिनकी पहले ही दिन से पोल-पट्टी खुलती चली गयी। कुल मिलाकर हुआ यह कि अमरीकी साम्राज्यवादी खेमा पूरी दुनिया को अपने शोषण के शिकंजे में कसने के लिए जो बहुप्रतीक्षित मंसूबा पाले हुए था, उसे रूसी खेमे में बिखराव से अनुकूल अवसर मिल गया। पूरी दुनिया में बेलगाम पूँजी का नंगा नाच शुरू हुआ।

## भारत में भी आ पहुँची पछुआ बयार

इधर भारतीय शासकों ने भी 1980 के दशक से ही विश्व बैंक से बेतहाशा कर्ज लेना शुरू किया और विदेशी पूँजी के साथ साझेदारी शुरू की। 1990 में भुगतान संतुलन का संकट पैदा हुआ जिसने देश को दिवालिया होने के कगार पर पहुँचा दिया। इस संकट को तात्कलिक रूप से हल करने के लिए सरकार ने 20 टन सोना बेचा ओर 47 टन सोना इंग्लैण्ड के बैंक में गिरवी रखा। इसी संकट को बहाना करके राव-मनमोहन सरकार ने 1991 में नयी आर्थिक नीती लागू की। बदले हुए विश्व शक्ति संतुलन में अपनी नयी जगह बनाने के लिए यहाँ के शासकों ने आत्मनिर्भर विकास, स्वायत्तता और नेहरूवादी मॉडल को रातोंरात तिलंजलि दे दी और साम्रज्यवादी जुलूस में शामिल हो गये। शर्त के रूप में विश्व बैंक-मुद्राकोष ने यहाँ भी अर्थव्यवस्था में ढाँचागत फेरबदल और उदारीकरण-निजीकरण की नीतियाँ थोप दी। अपनी वर्गीय सीमाओं और सामन्तवाद-साम्राज्यवाद के साथ समझौते के बावजूद, भारतीय शासक वर्ग ने जनता की गाढ़ी कमाई से जो विराट सार्वजनिक उद्यम खड़े किये थे उन्हें निजी मुनाफे की भेंट चढ़ा दी। व्यापार, वित्तीय संस्थान, उद्योग-धंधे, शोध-संस्थान, प्रतिरक्षा, शिक्षा, स्वास्थ्य, मनोरंजन, खेती, खदान, खुदरा व्यापार सहित अर्थव्यवस्था का हर क्षेत्र एक-एक कर विदेशी पूँजी और देशी निजी पूँजीपतियों की निर्मम और निर्बाध लूट के लिए खोल दिया गया। शिक्षा, स्वास्थ्य और आवश्यक सेवाओं के बजट में कटौती की गयी तथा खाद, बीज, पानी, बिजली, डीजल, रसोई गैस, सरकारी राशन, कृषि यंत्र इत्यादि पर दी जाने वाली सरकारी सहायता में लगातार कमी की गयी। पेटेंट कानून जैसे कई कानून जो स्वावलम्बी विकास में सहायक थे, उनको साम्राज्यवादी पूँजी के हित में पूरी तरह बदल दिया गया। रुपये का कई बार अवमूल्यन किया गया और मौद्रिक नीतियों में भारी फेर-बदल किये गये। इन सभी बदलावों का उद्देश्य मूलतः साम्राज्यवादी पूँजी के हित में अर्थव्यवस्था को नये सिरे से पुनर्गठित करना था। पिछले 20 वर्षों के दौरान उठाये गये इन्हीं कदमों का नतीजा है कि आज हमारा देश नयी साम्राज्यवादी विश्व व्यवस्था के अधीन आर्थिक नवउपनिवेश में बदल गया है।

पिछले 20 वर्षों के दौरान इन नीतियों के जो विनाशकारी परिणाम हुए हैं उनकी एक झलक पहले ही प्रस्तुत की गयी है। विडम्बना तो यह है कि 1990-91 में भुगतान संतुलन के संकट को हल करने की आड़ में हमारे शासकों ने साम्राज्यवाद के आगे निर्लज्ज आत्म समर्पण किया था, लेकिन स्थिति आज पहले से भी विकट हुई है। इन 20 वर्षों में निर्यात आय में 10 गुने की वृद्धि हुई जबकि आयात खर्च 12.5 गुना बढ़ा। इसके कारण विदेश व्यापार घाटा भी 1990-91 की तुलना में 20 गुना अधिक है। विदेशी मुद्रा भण्डार बढ़ने को लेकर सरकार डींग हाँकती है, लेकिन सच्चाई यह है कि 2011 में विदेशी परिसम्पत्तियों की तुलना में देनदारियाँ 2.11 अरब डॉलर अधिक थी। सरकार विदेशी मुद्रा को रिझाने में दिन रात व्यस्त रहती है, जबकि इसी के कारण देश के प्राकृतिक संसाधनों की बेहिसाब लूट और हर साल ब्याज, रॉयल्टी और मुनाफे के रूप में विदेशों में धन-सम्पदा का तीव्र प्रवाह हो रहा है। पिछले 20 वर्षों में बहुराष्ट्रीय कम्पनियों और देशी-विदेशी पूँजीपतियों ने मिलकर हमारे देश को जितना लूटा है, उतना अँग्रेजों ने 200 साल में भी नहीं लूटा होगा।

पूँजी की लूट और मुनाफे का एकमात्र स्रोत श्रम है। इसलिए मजदूरों का खून-पसीना निचोड़ने के रास्ते में जितने भी अवरोध थे, उन्हें इन 20 वर्षों के दौरान एक-एक कर हटाया गया। न्यूनतम मजदूरी, श्रम कानून, ट्रेड यूनियन बनाने का अधिकार, नौकरी में स्थायित्व और बेहतर सेवा शर्तों को निष्प्रभावी बना दिया गया। स्थायी मजदूरों की जगह ठेका

मजदूर, दिहाड़ी मजदूर, अस्थायी मजदूर और पीस रेट पर काम करवाने जैसे कई उपाय किये गये, ताकि मजदूरों को कम से कम मजदूरी देकर उनसे ज्यादा से ज्यादा काम लिया जा सके। यही कारण है कि 2007 के बीच भारत में श्रम की उत्पादकता 7.6 फीसदी बढ़ी, जबकि मजदूरी बढ़ने के बजाय उसमें एक फीसदी की कमी हुई।

सच तो यह है कि इन आर्थिक नीतियों के जरिये साम्रज्यवादी देशों ने अपनी पूँजी के बिस्तर की समस्या हल की और अपने संकट का बोझ भारत समेत दुनिया भर के देशों के मेहनतकश वर्ग पर डाल दिया।

## मर्ज बढ़ता गया ज्यों-ज्यों दवा की

नवउदारवाद संकट की उपज और संकट को टालने की एक नयी रणनीति थी। इसका एक महत्वपूर्ण पहलू अर्थव्यवस्था का वित्तीयकरण था जिसका मतलब है गैर उत्पादक वित्तीय लेन देन और उसमें भी शेयर बाजार की गतिविधियों का तेजी से बढ़ना। जब वास्तविक उत्पादन के क्षेत्र में उपभोक्ता माँग में लगातार गिरावट आने के कारण पूँजी के मुनाफे और नये पूँजी निवेश की गुंजाइश कम होती गयी, तब सट्टेबाजी की प्रवृति तेजी से बढ़ती गयी। लेकिन सट्टेबाजी भी पूरी तरह हवा में नहीं हो सकती, क्योंकि अतिरिक्त मूल्य और मुनाफे का वास्तविक स्रोत उत्पादन ही है। इसीलिए शेयर बाजार में भूचाल आने पर उसका सीधा असर उत्पादक अर्थव्यवस्था पर होना लाजिमी है।

नवउदारवाद के प्रवर्तक अमरीकी साम्रजवादी खेमें ने वित्तीय पूँजी का वैश्वीकरण करके अपने संकट को टालने का प्रयास किया, लेकिन सच पूछें तो यह रणनीति संकट को विश्वव्यापी बनाने में ही सहायक साबित हुई। शुरुआत से ही दुनिया के किसी न किसी कोने में आर्थिक संकट के झटके लगातार आते रहे। इन सभी संकटों की जड़ में वित्तीय पूँजी और सट्टेबाजी की कारगुजारियाँ थी। 80 के दशक में लातिन अमरीकी देशों और अन्य कई विकासशील देशों में एक साथ आये कर्ज संकट, 1990 में भारत के भुगतान संतुलन संकट और 1994 में मैक्सिको के कर्ज संकट के पीछे विश्व बैंक-मुद्रा कोष का हाथ था। 80 के दशक में जापानी शेयर बाजार का विध्वंश और पूरी दुनिया में उसके झटकों तथा उसके बाद 1997 में पूर्वी एशियाई देशों, 1998 में रूस, 1999 में अर्जेन्टीन और 1997 से शुरू हुआ अमरीकी डॉट कॉम बुलबुले का संकट शेयर बाजार के सट्टेबाजों की कारस्तानी थी। लेकिन इन तमाम तबाहियों के बावजूद वित्तीयकरण और सट्टेबाजी बढ़ने का सिलसिला जारी रहा। साम्राजवादी शासकों और उनके समर्थक अर्थशास्त्रियों ने शायद यह मान लिया कि इसका कोई हल उनके पास नहीं है। दुनिया भर में वित्तीय पूँजी के मालिकों की निरंकुश ताकत के आगे सभी लाचार थे, उनको नकेल डालने की किसी में कूबत नहीं थी, वरना पूँजीवादी दायरों में भी इस विनाश को कम करने के उपाय तो वे सोच ही सकते थे।

साम्राजवाद की बढ़ती परजीविता और उसकी मरणासन्न स्थिति सबसे साफ तौर पर अमरीका में ही अभिव्यक्त हुई। मुट्ठी भर अभिजात्यों और कृत्रिम रूप से पैदा किये गये मध्य वर्ग के उपभोग को बेहिसाब बढ़ाने के लिए अमरीकी समाज में कर्ज की शर्तों को बहुत ही आसान बनाया गया। घरेलू अर्थव्यवस्था को उत्पादक गतिविधियों को बढ़ावा देकर गतिशील बनाने की जगह वित्तीय पूँजी -- बैंक, बीमा और शेयर बाजार की सट्टेबाजी को बेलगाम छोड़ दिया गया। इसका ही नतीजा था गृह ऋण संकट का आना। जब 2006-07 में अमरीकी गृह ऋण संकट उत्पन्न हुआ, तो घरेलू कर्ज का हवा भर कर फुलाया गया वित्तीय पूँजी का गुब्बारा फट गया। धीरे-धीरे इसने पूरी दुनिया की अर्थव्यवस्थाओं को अपनी चपेट में ले लिया। अनुमान है कि इस संकट के कारण 40,000 अरब डॉलर का नुकसान हुआ जो दुनिया के कुल सालाना पैदावार का 45 फीसदी बैठता है। यह संकट आज भी जारी है और अनुमान है कि आगे भी जारी रहेगा।

कहा जाता है कि लुटेरों के बीच लूटपाट करने को लेकर आपस में एकता होती है, लेकिन लूट के माल के बँटवारे को लेकर या कोई आफत आ जाने पर उनमें टकराव शुरू होता है और सब एक दूसरे पर तोहमत लगाते हैं। इस बार भी संकट के आते ही आम सहमति की जगह तू-तू, मैं-मैं शुरू हुआ। नवउदारवाद के प्रबल समर्थक, अमरीकी फेडरल रिजर्व के अध्यक्ष एलेन ग्रीनस्पान ने 'द इकोनोमिस्ट' में अमरीकी गृह ऋण संकट के बारे में लिखा कि "आर्थिक आजादी खतरे में है और पूँजीवाद... रसातल में हैं... लेकिन जो लोग इस व्यवस्था में यकीन रखते हैं उन्हें इसको बचाने के लिए लड़ना होगा... पूँजीवाद को बचाना है तो थोड़े समय के लिए राज्य की दखलन्दाजी जरूरी है, हाँलाकि यह एक विरोधाभाष है। लोगों का गुस्सा जायज है... आज 2500 अरब डॉलर जनता का पैसा उन कम्पन्यिों को बचाने पर खर्च करना पड़ रहा है, जिन्होंने पहले ही भरपूर मुनाफा बटोरा है।"

नवउदारवाद के संचालकों की भाषा बदल गयी। बाजार

को बेलगाम छोड़ने के हिमायती और सरकारी हस्तक्षेप को पाप समझने वाले अब सरकारी दखलन्दाजी के पैरोकार बन गये। सरकारों ने अर्थव्यवस्था में दखलन्दाजी की। डूबती हुई वित्तीय संस्थाओं का राष्ट्रीयकरण करके, जमा और निवेश की गारण्टी लेकर, ब्याज दर में कटौती करके तथा दिवालिया कम्पनियों को आर्थिक मदद देकर सरकारों ने उन्हें संकट से उबारा। और तो और, इस संकट के लिए जिम्मेदार वित्तीय पूँजीपतियों ने सरकारों पर दबाव बनाया कि वे सार्वजनिक खर्च में कटौती करें और उस बचत से सट्टेबाज वित्तीय संस्थाओं को उबारें। वित्तीय पूँजी का राजनीति प्रभाव इतना अधिक है कि सरकारें उनके इशारे पर नाचती हैं तथा 'मुनाफे का निजीकरण और घाटे का राष्ट्रीयकरण' करने वाली नीतियाँ बनाती और लागू करती हैं।

इन सारी बातों का निष्कर्ष यही है कि संकट को टालने के लिए 1990 से वैश्वीकरण-उदारीकरण-निजीकरण की जो नयी साम्राज्यवादी रणनीति पूरी दुनिया पर आरोपित की गयी, उसने संकट को और भी विकराल रूप में सामने ला दिया।

## यह संकट तो पूँजीवाद के साथ ही जायेगा

ठहराव और संकट की प्रवृत्ति एकाधिकारी पूँजीवादी अर्थव्यवस्था का चारित्रिक गुण है, क्योंकि जैसे-जैसे लोगों की खरीद क्षमता चुकती जाती है, मुनाफे के लायक निवेश के मौके कम होते जाते हैं। साथ ही, अतिरिक्त उत्पादन को खपाने वाले दूसरे तरीके (जैसे- ठेल कर बेचने, विदेशी बाजार कब्जाने और सरकारी खरीद इत्यादि) भी इस समस्या को हल नहीं कर पाते। नतीजा यह कि अतिरिक्त उत्पादन की अतिशय क्षमता असाध्य रोग बन जाती है, जिससे पूँजी संचय तो बेलगाम बढ़ता जाता है, लेकिन नये निवेश पर सम्भावित मुनाफा कम होता जाता है। इस तरह पूँजीपतियों में निवेश की चाहत कम होती जाती है।

ऐसी स्थिति में पूँजी संचय को दुबारा तेज करने वाली किसी ऐसी नायाब खोज की जरूरत पड़ती है, जो भाप-इंजन, रेलवे और ऑटोमोबाइल के जैसा प्रभाव छोड़ सके। इसके अभाव में यह व्यवस्था अनिश्चित काल के लिए ठहराव में उलझ सकती है। जैसा की अर्थशास्त्री माइकल कलेकी ने बताया है- "...लम्बी अवधि का विकास पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में अन्तर्निहित नहीं होता है। इसलिए लम्बी अवधि की नीचे लुढ़कने वाली गति को रोकने के लिए खास तरह के 'विकास के कारकों' की जरूरत होती है।"

1970 के दशक में शेयर बाजार की सट्टेबाजी में पैसा लगाने का चलन तेजी से बढ़ा तो ठहराव को दूर करने में कुछ मदद मिली। इसे ही अर्थव्यवस्था का वित्तीयकरण कहते है जिसका मतलब है -- पूँजी का वास्तविक उत्पादक अर्थव्यवस्था की जगह सट्टेबाजी और अनुत्पादक गतिविधियों में लगाना और बिना कोई मूल्य पैदा किये फर्जी तरीके से मुनाफा कमाना। सट्टेबाजी की प्रेरणा से पूँजी निवेश का दायरा देश की सीमाएँ लाँघ जाता है और दुनिया भर के शेयर बाजारों में पूँजी की आवाजाही होने लगती है। लेकिन अक्सर गुब्बारा फटता है और अरबों की पूँजी गायब हो जाती है। 2006-07 में यही हुआ और यह आज भी जारी है।

विश्व पूँजीवादी व्यवस्था का संकट बढ़ता जा रहा है। दुनिया भर की मेहनतकश जनता के मन में इस बात को लेकर आक्रोश सुलग रहा है। दुनियाभर में आन्दोलनों का सिलसिला भी चल रहा है। लेकिन दुनिया की मेहनतकश जनता की कमजोर वैचारिक और सांगठनिक स्थिति के चलते इस मौके का फायदा उठाना सम्भव नहीं हो पाया है। उल्टे इस संकट को हल करने के लिए साम्राजवादी देशों की पूँजी गरीब देशों पर और सभी देशों के पूँजीपति अपने-अपने देशों की मेहनतकश जनता पर शोषण-उत्पीड़न का शिकंजा कसते जा रहे हैं।

पूँजीवाद ढाँचागत संकट की गिरफ्त में है। इस व्यवस्था के ढाँचे में इस संकट से निजात पाना सम्भव नहीं है। ढाँचे में आमूल परिवर्तन ही विश्व जनगण को इस दुख-दैन्य और बदहाली से निजात दिला सकता है। लेकिन यह काम कौन करेगा? पूँजीपति वर्ग ऐसा आत्मघाती कदम उठाकर अपने ही हाथों अपना अंत नहीं करेगा। जाहिर है कि यह काम मेहनतकश वर्ग का है। यह उसी की ऐतिहासिक जिम्मेदारी है कि मरणासन्न, परजीवी, मानवद्रोही पूँजीवादी व्यवस्था को ध्वस्त करे तथा न्याय और समता पर आधारित समाजवादी व्यवस्था का निर्माण करे। यही एकमात्र विकल्प है। यह काम कठिन है, लेकिन असम्भव नहीं।

आज इतिहास ने पहली बार विश्व स्तर पर उत्पादक शक्तियों का स्तर इतना ऊँचा उठ गया है कि पूरी मानवजाति को एक सम्मानजनक जीवन बिताने योग्य हर संसाधन मुहैया करना बहुत ही आसान है। फिर भी दुनिया की अधिकांश जनता भूख, गरीबी और बदहाली में जीने को अभिशप्त है। इसके पीछे यह मुनाफाखोर, मानवद्रोही व्यवस्था है, जो न केवल उत्पादक शक्तियों का विनाश कर रही है, बल्कि लोगों की असीम ऊर्जा और क्षमता को नष्ट कर रही है, मानव गरिमा को कलंकित कर रही है और पूरी पृथ्वी को तबाह करने पर आमादा है। ❑

# 'पशु प्रवृत्ति' को पुनर्जीवित करो! बर्बरता की राह पर आगे बढ़ो!!

**–आनंद**

हमारे देश के शासकों का भारत की दुर्दशा से अभी जी नहीं भरा है। देश के विकास का राग अलापते-अलापते, उनका गला अचानक बैठ गया, जब पिछले दिनों केंद्रीय सांख्यिकी संगठन ने चालू वित्त वर्ष 2012-13 में विकास दर मात्र पाँच प्रतिशत रहने की संभावना व्यक्त की। तभी से भारतीय रिजर्व बैंक, वित्त मंत्रालय, योजना आयोग और प्रधानमंत्री आर्थिक सलाहकार परिषद जैसी संस्थाओं के चेहरों पर हवाइयाँ उड़ने लगी हैं। रिजर्व बैंक के गवर्नर डी सुब्बाराव ने कहा कि इस गिरावट से देश काँप गया है। सरकार व्याकुल हो उठी है।

जब देश में ढाई लाख से भी ज्यादा किसानों ने आत्महत्या की, तब सरकार व्याकुल नहीं हुइ योजना आयोग को प्रवोधित करने वाली संस्था इंस्टीट्यूट ऑफ एप्लाइड मैनपावर रिसर्च की रिपोर्ट से भी सरकार व्याकुल नहीं हुई, जिसमें कहा गया है कि सरकार की नीतियों के कारण देश में बेरोजगारी बढ़ाने वाला विकास हो रहा है। करोड़ों लोगों को सामाजिक सुरक्षा के बगैर ठेका मजदूर बना दिया गया है। अनियमित एवं अनौपचारिक मजदूरों की संख्या में डेढ़ करोड़ की बढ़ोत्तरी हुई है। 2005-10 के दौरान विनिर्माण क्षेत्र से 50 लाख तथा सेवा क्षेत्र से 40 लाख मजदूरों की छटनी हुई है, इत्यादि। इस रिपोर्ट से देश के अस्सी प्रतिशत गरीब और बदहाल लोगों की दुर्दशा की एक झलक मिलती है जिसके लिए यही तथाकथित तीव्र विकास दर जिम्मेदार रहा है जो 2010 तक जारी थी।

इसी अवधि में देश की कुल आबादी के बीस प्रतिशत से भी कम अमीर आबादी की आमदनी में बेशुमार बढ़ोत्तरी हुई है। भारत में 1990 के दशक के मध्य तक सिर्फ दो अरबपति थे। इनकी कुल संपत्ति 3.2 अरब डालर थी। 2012 में इनकी संख्या 46 हो गयी तथा कुल संपत्ति बढ़ कर 176.3 अरब डालर हो गयी। इस संपत्ति की बढोत्तरी की वजह उत्पादन की रणनीति नहीं, बल्कि अन्य तमाम हथकंडे रहे हैं, जिसका इस्तेमाल कर इन्होंने अपनी संपत्ति बढ़ाई है। इसी तथाकथित विकास का परिणाम है-- एक ओर विपन्न लोगों का विशाल समुदाय और दूसरी ओर मुट्ठी भर अरबपतियों की संपत्ति में बेतहाशा वृद्धि। विदेशी कंपनियों की लूट अलग है।

2000-01 के बाद सकल घरेलू उत्पाद में एक फीसद की हर अतिरिक्त बढ़ोत्तरी से कारपोरेट घरानों के मुनाफे में 2.5 प्रतिशत की बढ़त हुई है। यही कारण है कि विकास दर में गिरावट को लेकर देश के बैंकर, स्टॉक एक्सचेंज किंग, जंगल, कोयला और लोहा खदान के मालिक, बड़े भूस्वामी, संसद में बैठने वाले इनके नुमाइंदे, इनके संगठन आदि सोच-विचार में लगे हुए हैं। मध्यवर्ग की चिंता है कि वह रातों-रात कैसे करोड़पति बन जाय। पिछले बीस वर्षों में उसे विकास दर के महिमागान ने खूब रिझाया है। अब वह भी विकास दर में गिरावट से चिंतित है। इस तबके का एक बड़ा हिस्सा बेरोजगारी और महँगाई से त्रस्त है, फिर भी वह अपना भविष्य विकास के मौजूदा मॉडल में ही देखता है। इस मॉडल में इस तबके का एक छोटा हिस्सा तो समाहित हो जाता है, लेकिन इसका बड़ा हिस्सा कर्ज के जाल में फँस कर अवसादपूर्ण जीवन जीने के लिए अभिशप्त होता है।

योजना आयोग के मुताबिक भारत के विकास की क्षमता को उभारने के लिए निवेश दर में 35 प्रतिशत बढ़ोत्तरी होनी चाहिए। इसमें निजी पूँजी की मुख्य भूमिका होगी और विदेशी पूँजी की तो और ज्यादा। लेकिन कैसे?

योजना आयोग ने 12वीं पंचवर्षीय योजना दस्तावेज में साफ कहा है, ''पंचवर्षीय योजना के शुरुआती प्रथम वर्ष में पशु प्रवृत्ति को पुनर्जीवित करना ही योजना का तात्कालिक नीतिगत उद्देश्य होना चाहिए।'' जब प्रणब मुखर्जी राष्ट्रपति पद के उम्मीदवार थे, तब वित्तमंत्री का कार्यभार प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह सम्भाल रहे थे। इन्होंने वित्त मंत्रालय में कहा, "भारतीय अर्थव्यवस्था में 'एनिमल स्पिरिट' को पुनर्जीवित करो।" पशु प्रवृत्ति की चर्चा 1936 में कीन्स ने की थी, उनका अभिप्राय पूँजीपतियों में आत्मविश्वास भरना था ताकि वे निवेश कर सकें। तब यूरोप महामंदी के दौर से गुजर रहा था। पूँजीवाद का असाध्य संकट 'मंदी' उसे ग्रसित किये जा रही थी। साम्राज्यवादी शक्तियाँ आपस में उपनिवेशों का बंदरबाँट कर पूँजी निवेश और बाजार की समस्या हल कर लेना चाहती थी। साम्राज्यवादियों के इस आपसी झगड़े ने द्वितीय विश्वयुद्ध की विभीषिका को

जन्म दिया। आज फिर यूरोप और अमरीका महामंदी के दौर से गुजर रहे हैं। ये साम्राज्यवादी शक्तियाँ बर्बरता की सारी सीमाएँ लाँघ कर अपनी पूँजी और बाजार की समस्या हल करने के लिए उद्धत है। भारत में 'पशु प्रवृत्ति' को पुनर्जीवित करने का अर्थ है साम्राज्यवाद के बर्बर पशु को खुला छोड़ देना। इस समय प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह, सोनिया गाँधी, योजना आयोग के उपाध्यक्ष मोंटेक सिंह आहलुवालिया तथा वित्त मंत्री पी चिदंबरम सहित अनेक मंत्री देश में विदेशी पूँजी निवेश के पैरोकार हैं। देश के तमाम मुख्यमंत्री अमरीका, यूरोप, जापान, सिंगापुर का दौरा लगाकर विदेशी कंपनियों को अपने राज्य में पूँजी लगाने के लिए हर तरह की चापलूसी करने में पीछे नहीं है। वित्त मंत्री ने अपने बजट (वर्ष 2013-14) भाषण में कहा, "इस वर्ष तथा अगले वर्ष भी, हमें वित्तीय घाटे को पूरा करने के लिए 75 अरब डालर की आवश्यकता है। इसके लिए हमारे पास सिर्फ तीन ही रास्ते हैं, - (1) प्रत्यक्ष विदेशी निवेश (2) विदेशी संस्थागत निवेश (3) विदेशी कर्ज मैं साफ कहता हूँ कि विदेशी निवेश अनिवार्य है।" जाहिर है कि सरकार देश में विदेशी पूँजी की 'पशु प्रवृत्ति' को पुनर्जीवित करना चाहती है। सरकार जिस विदेशी पूँजी की चर्चा कर रही है, वह साम्राज्यवादी पूँजी है, जिसका उद्देश्य होता है देश की प्राकृतिक सम्पदा को लूटना और देश की उत्पादन क्षमता को सदा-सदा के लिए नेस्तनाबूद कर देना ताकि देश की आत्मनिर्भरता समाप्त हो जाए। साम्राज्यवादी पूँजी किसी देश को कुछ देती नहीं है, उसे सिर्फ लूटती है।

1991 से ही राव-मनमोहन की सरकार द्वारा विश्व बैंक एवं अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष की शतो के मुताबिक ढाँचागत समायोजन कार्यक्रम के अंतर्गत 'पशु प्रवृत्ति' को जागृत किया जा चुका है। इसका परिणाम हमारे सामने है।

1990 में विदेशी कर्ज एवं विदेशी निगमों की पूँजी के सहारे देश में विकास की नीति अपनायी गयी। इस नीति के अंतर्गत देशी उपक्रमों का दिवाला पिटा और लाखों कारखाने बंद हुए। इसमें देशी उपक्रमों के बढ़ने की कोई गुंजाइश ही नहीं थी। क्योंकि इस नीति के केन्द्र में राष्ट्रीय हित न होकर विदेशी बाजार की सेवा करना था। इस दौरान देश में निर्यात से ज्यादा आयात ही होता रहा और इससे उत्पन्न होने वाले घाटे को कर्ज लेकर पूरा किया जाता रहा। इससे देश का पतन और देशी-विदेशी निगमों का उत्थान हुआ।

विकास के नाम पर राज्य और केन्द्र सरकार ने आदिवासियों एवं किसानों की जमीन कोड़ि के मोल लेकर बड़ी कंपनियों को सौंप दी। इसके लिए सत्तातंत्र ने हिंसा का सहारा लिया। कानून बना कर बड़े निगमों के लिए ज्यादा से ज्यादा जमीन उपलब्ध करायी गयी। भूमी हदबंदी कानून को बदल दिया गया। फिर भूमि अधिग्रहण कानून के तहत कृषि भूमि को रियल इस्टेट में परिवर्तित कर शक्तिशाली बिल्डर्स और डेवलपर्स को मालामाल कर दिया गया। ग्रामीण विकास मंत्रालय के अनुसार भारत में आदिवासी आबादी की जमीन जिस पैमाने पर छीनी गयी है वह कोलंबस के जमाने के बाद जमीन हथियाने की सबसे बड़ी परिघटना है। मार्क्स ने कभी कहा था कि "कानून अपने आप में अब लोगों की जमीन चुराने का एक हथियार बन गया है।"

टू जी स्पेक्ट्रम एवं कोयला घोटाले से स्पष्ट है कि देश का प्राकृतिक संसाधन पूँजीपतियों के कब्जे में पहुँच गया है। बैंक संरचना में तब्दीली हो रही है ताकि निगमों पर कर्ज वापसी के लिए कोई दबाब न पड़े। बैंकिंग नीति में बदलाव का उद्देश्य है विदेशी निवेशकों के लिए बैंकिंग जगत में ज्यादा से ज्यादा जगह बनाना।

देश में सट्टा बाजार विदेशी पूँजी के आगमन का प्रमुख माध्यम है। सट्टा बाजार में विदेशी निगमों का वर्चस्व कायम हुआ है। देश में विदेशी पूँजी का करीब आधा हिस्सा पार्टिसिपेटरी नोटों (बेनामी रुक्का) के माध्यम से आता है जिसके निवेशकों के बारे में कोई जानकारी भी नहीं होती। सट्टा बाजार से सम्बंधित विदेशी निगमों की हर शर्त को सरकार स्वीकार करती है, क्योंकि उन्हें हर हाल में खुश रखना है। सट्टाबाजार की विदेशी पूँजी जो अल्पकालिक एवं पोर्टफोलियो पूँजी है, सरकार की नाक में एक एसी नकेल है, जिससे विदेशी कंपनियाँ सरकार को अपने काबू में करने की क्षमता रखती हैं।

मनमोहन-मोंटेक-चिदंबरम वादी विकास के बारे में भारत के सर्वोच्च न्यायालय का कहना है कि "पूँजीवाद के लुटेरे स्वरूप को राज्य द्वारा समर्थन तथा बढ़ावा दिया गया है, जो संवैधानिक वसूलों और मूल्यों का खुला उल्लंघन है।... यह दलील कि ऐसा होना विकास सिद्धांत के लिए आवश्यक है और इसका परिणाम भी यही होना है-- एक अतर्कसंगत दलील है।"

अब साफ जाहिर है कि हमारे शासक वर्ग ने अपने को विदेशी कंपनियों के साथ नाभिनाल कर लिया है। वे देश में साम्राज्यवादी लूट के पैरोकार ही नहीं, बल्कि उसके अभिन्न अंग बन गए हैं। देश में 'पशु प्रवृत्ति' को पुनर्जीवित करने का सार है-- विदेशी कंपनियों के सामने भारत के शासकों का पूर्ण आत्मसर्मपण। इसके परिणामस्वरूप देश में सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक सभी क्षेत्रों में बर्बरता को भरपूर बढ़ावा मिलेगा। ❑

# मजदूरों की देशव्यापी हड़ताल और मजदूर वर्ग की दशा

**–विक्रम प्रताप**

20-21 फरवरी को मजदूरों की दो दिवसीय आम हड़ताल ने देश की राजनीति को बहुत गहराई तक प्रभावित किया। बढ़ती महँगाई और सरकार की जनविरोधी नीतियों के खिलाफ गुस्से का इजहार करने के लिए देश भर में 10 करोड़ से अधिक मजदूर सड़कों पर उतर आये। 11 केन्द्रीय ट्रेड यूनियनों द्वारा प्रस्तावित इस हड़ताल में सड़क परिवहन, बैंक और बीमा क्षेत्र, औद्योगिक उत्पादन केन्द्रों और शैक्षिक संस्थानों के कर्मचारियों ने बढ़-चढ़कर हिस्सा लिया। सभी प्रमुख ट्रेड यूनियनों के संयुक्त आह्वान को विशेष आर्थिक क्षेत्र, निजी उद्योगों और असंगठित क्षेत्र के मजदूरों का भी भरपूर सहयोग मिला।

केन्द्र और राज्य सरकारों ने आन्दोलन को तोड़ने और बदनाम करने की जी-तोड़ कोशिश की। केरल की कांगेस सरकार ने हड़ताल में भाग लेने वाले कर्मचाारियों के वेतन में कटौती का भय दिखाया। पश्चिम बंगाल की मुख्यमंत्री ने इन दो दिनों के लिए छुट्टी लेने पर रोक लगा दी और दुकानदारों को धमकाया कि दुकान बन्द करने पर उन्हें लाइसेन्स छिन जाने या जुर्माना भरने के लिए तैयार रहना होगा। केन्द्र सरकार ने अनुपस्थित कर्मचाारियों को गम्भीर परिणाम भुगतने की धमकी दी और सभी छुट्टियों पर रोक लगा दी। इसके बावजूद वे इस हड़ताल को रोक पाने में असफल रहे। तमिलनाडु के तिरुपुर शहर के दो लाख से अधिक कपड़ा मजदूर हड़ताल पर चले गये। आन्ध्र प्रदेश के सिंगरेनी की सरकारी कोयला कम्पनी के खनिक मजदूर काम पर नहीं गये। दक्षिण भारत में हड़ताल का असर आंशिक था, जबकि उत्तरी भारत में हरियाणा, पंजाब और चण्डीगढ़ इससे पूरी तरह प्रभावित रहे। गुजरत में 8,000 सरकारी बसें नहीं चलीं और बैकिंग क्षेत्र में भी काम नहीं हुआ। इस तरह इस आन्दोलन ने पूरे देश को अपनी चपेट में ले लिया। इतना कुछ होते हुए भी सरकार के कान पर जूँ तक नहीं रेंगी। उसके प्रवक्ता ने कहा कि हड़ताल बेअसर साबित हुई

देश व सभी प्रमुख ट्रेड युनियनों की समन्वय समिति ने सरकार के सामने दस सूती माँग पत्र रखा था जिसमें महँगाई कम करना, रोजगार बढ़ाना, श्रमकानून का मजबूती से पालन करना, सबके लिए सामाजिक सुरक्षा उपलब्ध कराना, केन्द्र और राज्य की इकाईयों में विनिवेशीकरण पर रोक लगाना, स्थायी काम के लिए ठेका प्रथा पर रोक, समान काम के लिए समान वेतन और लाभांश देना, न्यूनतम मासिक वेतन 10 हजार रुपये करना, बोनस और पीकेएफ की अधिकतम सीमा समाप्त करना और ग्रेच्युटी की रकम बढ़ाना, सभी के लिए पेन्शन सुनिश्चित करना, 45 दिन के अन्दर ट्रेड यूनियन का अनिवार्य पंजीकरण और अन्तरराष्ट्रीय श्रम संगठन के अनुच्छेद 87 और 98 के तहत उसका तुरन्त अनुमोदन शामिल थे। सरकार ने इनमें से कोई भी माँग नहीं मानी। उल्टे वित्त मंत्री पी चिदम्बरम् ने वार्ता में उपस्थित न होकर यह संकेत दे दिया कि सरकार मजदूरों की माँगों के प्रति तनिक भी गम्भीर नहीं है। न चाहते हुए भी ट्रेड यूनियनों को दो दिन की देशव्यापी आम हड़ताल का आह्वान करना पड़ा।

अम्बाला में कुछ शरारती तत्वों ने एटक यूनियन के एक स्थानीय नेता नरेन्द्र सिंह की बस से कुचलकर हत्या कर दी। इससे वहाँ आन्दोलन हिंसक हो गया। इसके विरोध में कई स्थानों पर तोड़-फोड़ की कार्रवाई की गयी। मौके की ताक में बैठी मीडिया और सरकार ने आन्दोलन को बदनाम करने के लिए इस घटना का इस्तेमाल किया। अक्सर ऐसा होता है कि किसी जनान्दोलन को पहले लूटपाट या आतंकी कार्रवाई बताकर सरकार बदनाम करती है और फिर उसका दमन करती है। लोगों से गहरा जुड़ाव रखने वाला कुशल नेतृत्व ही ऐसी हिंसक कार्रवाइयों और उसके बहाने से किये जाने वाले दुष्प्रचार का सामना कर सकता है। क्योंकि यह मानी हुई बात है कि अहिंसक आन्दोलन दूरगामी और व्यापक प्रसार वाला होता है। इसे जनता के हर तबके का समर्थन मिलता है। कुशल नेतृत्व हमेशा यह कोशिश करता है कि आन्दोलन को हिंसक होने से बचाया जाय, ताकि सरकार और उसके चाटुकारों को उसे बदनाम करने का कोई मौका न मिले। लेकिन कुशल नेतृत्व के अभाव ने मीडिया को गला फाड़कर चिल्लाने का मौका दे दिया कि "दंगाई हुए मजदूर"। चाहे ये घटनाएँ छिटपुट ही हुई हों जबकि ज्यादातर मामलों में आन्दोलन शान्तिपूर्ण ही था।

सरकार आये दिन जनान्दोलनों का दमन करती है, लेकिन इसे "वैदिक हिंसा हिंसा न भवति" की तर्ज पर कोई हिंसक कार्यवाही नहीं माना जाता। नन्दीग्राम, सिंगूर और टप्पल

में किसानों के कत्लेआम ने अंग्रेजी राज के जलियावाला बाग हत्याकाण्ड को भी पीछे छोड़ दिया था। होण्डा कम्पनी के मजदूरों को पुलिस ने घेरकर उस समय बर्बरता के साथ पीटा जब वे शान्तिपूर्ण धरने बैठे थे। संविधान और श्रम कानून का ककहरा जानने वाला कोई भी व्यक्ति यह जानता है कि सरकार और पूँजीपतियों की गलत नीतियों का विरोध करने, संगठित होने और यूनियन बनाने का अधिकार संविधान द्वारा सबको हासिल है। लेकिन सरकार इसे माने तब न। मारूति-सुजुकी के मजदूर अपने जायज अधिकारों में कटौती के खिलाफ कई सालों से आन्दोलन चला रहे हैं। लेकिन ईमानदार नेताओं को डरा-धमकाकर या जेल में डाल कर, ढुलमुल नेताओं को खरीदकर और मीडिया के जरिये आन्दोलन को बदनाम करके उसे तोड़ने की कोशिश की जा रही है। पिछले साल जुलाई में मारूति के प्रबन्धन और मजदूर के बीच झड़प का बहाना बनाकर 546 स्थाई मजदूरों और 1800 ठेका मजदूरों को जेल में डाल दिया गया तथा 145 मजदूरों को जेल में डाल दिया गया। इस देश में संगीन अपराधी भी आसानी से जमानत पर छूट जाते हैं, लेकिन पिछले 6 महीने बाद भी उन मजदूरों को जमानत नहीं मिली। इसके खिलाफ आवाज उठाने वाले यूनियन नेताओं को भी जेल में डाल दिया गया। इसके बावजूद मजदूरों का हौसला पस्त नहीं हुआ और उनका आन्दोलन आज भी जारी है।

औद्योगिक घरानों ने आम हड़ताल का जोर-शोर से विरोध किया, क्योंकि इससे उनके हितों पर सीधी चोट पहुँची है। पूँजीपतियों की संस्था एसोचैम ने दो दिन की इस हड़ताल में इससे 'राष्ट्र' के होने वाले नुकसान का आँकड़ा पेश किया। इस साल देश की जीडीपी (कुल सालाना पैदावार) 95 लाख करोड़ रुपये रहने का अनुमान है, यानि दो दिन में 52 हजार करोड़ रुपये। इस हड़ताल से दो दिन में 30 से 40 प्रतिशत कारोबार में कमी से कुल 20 हजार करोड़ का नुकसान हुआ। मतलब यह कि 10 करोड़ मजदूर जब दो दिन काम पर नहीं जाते तो 20 हजार करोड़ का नुकसान होता है। इस हिसाब से एक दिन में एक मजदूर 1000 रुपये पैदा करता है। तभी तो जब वह काम पर नहीं जाता तो राष्ट्र को 1000 करोड़ रुपये का नुकसान सहना पड़ता है। जबकि ज्यादातर मजदूरों को प्रति माह 2000 से 5000 रुपये वेतन मिलता है। बाकी धन किसकी जेब में चला जाता है? देश के नुकसान को लेकर शोकाकुल एसोचैम इस बात को क्यों नहीं बताता? इससे साबित होता है कि पूँजीपतियों की पूरी परजीवी जमात किन लोगों की मेहनत को लूट कर फल-फूल रही है? दूसरी ओर पिछले दिनों हेलीकॉप्टर, कोयला आवंटन, वक्फ बोर्ड जमीन, 2 जी स्पेक्ट्रम और कॉमनवेल्थ घोटालों में कुल 5.73 लाख करोड़ रुपये भ्रष्टाचारियों की भेंट चढ़ गये। लेकिन इतने बड़े घोटालों को लेकर एसोचैम ने कोई चूँ-चपड़ नहीं की लेकिन 20 हजार करोड़ का नुकसान पूँजीपतियों, मीडिया और सरकार को हलकान किये दे रहा है।

मीडिया ने भी आन्दोलन को बदनाम करने के लिए कोई मौका हाथ से जाने नहीं दिया। देश के सबसे बड़े समाचार समूहों में से एक, टाइम्स ऑफ इण्डिया ने इसे अनुचित और दुखद बताया। कई मीडिया समूहों ने तो इस समाचार को छापा ही नहीं। कुछ ने कहा कि "हड़ताली कर्मचारी हिंसक होते हैं, श्रम कानून पुराने पड़ गये हैं, इसलिए इन्हें खत्म करके उत्पादकता बढ़ानी चाहिए", हड़ताल करने से महँगाई कम नहीं होगी या मजदूर आलसी होते हैं और श्रम किये बगैर वेतन चाहते हैं। मजदूरों के खिलाफ हवा बनाने के लिए ऐसी झूठी बातें उछाली गयीं, जबकि सच्चाई कुछ और ही है। सन् 2008 से 2011 के बीच भारत में श्रम की उत्पादकता में 7.6 प्रतिशत की वृद्धि हुई, लेकिन वास्तविक मजदूरी बढ़ने के बजाय उसमें एक प्रतिशत की गिरावट हुइ यह तथ्य मन्दी के दौर का है, जबकि तेजी के दौर में हालत और भी खराब थी। सन् 1999 से 2011 के बीच श्रम उत्पादकता में वृद्धि 12.6 प्रतिशत थी जबकि वास्तविक आमदनी में 2 प्रतिशत गिरावट हुई थी। यह कहना बिल्कुल निराधार है कि आर्थिक मंदी की वजह से मजदूरी में गिरावट हुई पिछले 22 सालों में, जबसे निजीकरण, उदारीकरण की आँधी चली है, तभी से काम की रफ्तार, काम के घण्टे और काम का बोझ बढ़ाकर उत्पादकता में वृद्धि की गयी और मजदूरों की हाड़तोड़ मेहनत से भरपूर मुनाफा निचोड़ा गया।

श्रम की इस बेहिसाब लूट को जारी रखने के लिए श्रम कानूनों को तोड़ा गया, ठेका मजदूरी प्रथा शुरू की गयी और मजदूरों की भारी पैमाने पर छँटनी की गयी। ज्यादातर ठेका मजदूरों की मासिक आमदनी 2000-3000 रुपये है। औद्योगिक क्षेत्र के सरकारी उपक्रमों में 50 प्रतिशत और निजी क्षेत्र में 80 प्रतिशत मजदूर ठेके पर काम करते हैं। देश की कुल 45.9 करोड़ श्रमशक्ति में 12.8 करोड़ ठेका मजदूर हैं, जबकि कुल श्रम शक्ति का 86 प्रतिशत अनौपचारिक क्षेत्र में काम करते हैं। बाकी बचे औपचारिक क्षेत्र के कुल मजदूरों में से केवल 53 प्रतिशत मजदूरों को ही श्रम कानूनों का लाभ मिलता है, जिनकी संख्या कुल मजदूरों की तुलना में बहुत कम है। 90 प्रतिशत से अधिक श्रम शक्ति के लिए कोई भी कानूनी संरक्षण हासिल नहीं है। इसीलिए ठेकेदार और पूँजीपति

इनका बहुत ही निर्मम शोषण करते हैं।

पिछले 22 सालों में सरकारों ने वैश्वीकरण, उदारीकरण और निजीकरण की लुभावनी नीतियों के जरिये गरीबों से छीनकर अमीरों की तिजोरी भरने का नुस्खा अपनाया। इसे ही उन्होंने विकास का नाम दिया। लिहाजा एक ओर अरबपतियों की संख्या तेजी से बढ़ती गयी तो दूसरी ओर बहुसंख्यक जनता को कंगाली और बदहाली के नरक में धकेल दिया गया। इससे लोगों की क्रय शक्ति काफी गिर गयी। बाजार सामानों से पटा होने के बावजूद लोगों के पास खरीदने के लिए पर्याप्त धन नहीं रह गया। नतीजा यह कि 2007 में देश की अर्थव्यवस्था मन्दी की गिरफ्त में फँस गयी। फैक्ट्रियाँ बन्द होने लगी। कम्पनियों ने इस खराब स्थिति का फायदा बठाकर लाखें लोगों की छँटनी कर दी। इससे बेरोजगारी में बेतहाशा वृद्धि हुई सरकार ने मजदूर आन्दोलन की खराब स्थिति को भाँपते हुए व्यापक पैमाने पर ठेका प्रथा लागू कर दी। मजदूर वर्ग के हितों पर चौतरफा हमले किये गये। रोजगार की कोई गारन्टी नहीं रह गयी। खराब सेवा शर्तों पर नौकरी करने के लिए लोगों को बाध्य किया गया। इसके बावजूद मजदूर वर्ग आत्महत्या, दुर्घटना और बदहाली को झेलते हुए जिन्दगी की जद्दोजहद से पीछे नहीं हटा। उनके दिलों में इस अन्याय के प्रतिकार की आग सुलग रही है। इसी कारण उन्होंने आम हड़ताल में इतना बढ़-चढ़कर हिस्सा लिया, जितना ट्रेड यूनियन के शीर्षस्थ नेता शायद चाहते भी नहीं थे।

लेकिन नेतृत्व की दृढ़ता के अभाव में यह आन्दोलन कुछ हासिल नहीं कर सका। हड़ताल के दौरान ट्रेड यूनियन नेतृत्व की कमियाँ खुलकर सामने आयीं। सन् 2004 में गुजरात के मात्र 20 प्रतिशत पीड़ित मजदूर अपनी समस्याओं के समाधान के लिए ट्रेड यूनियन के पास गये। जबकि 33 प्रतिशत मजदूरों ने सीधे प्रबन्धन से सम्बन्ध स्थापित किया। मजदूरों को इससे क्या हासिल हुआ होगा, वह इसी से जाहिर है कि प्रबन्धन के सामने असंगठित मजदूरों की कोई हैसियत ही नहीं होती। सोचने वाली बात यह है कि ट्रेड यूनियनों पर अधिकतर मजदूर विश्वास क्यों नहीं करते? दरअसल आज सभी बड़ी ट्रेड यूनियनें किसी न किसी पार्टी की पिछलग्गू बनी हुई हैं। इसीलिए सरकार से मोलभाव करने की उनकी क्षमता बहुत कम हो गयी है। ट्रेड यूनियन की छोटी-छोटी माँगों पर भी उनकी पार्टियाँ ध्यान नहीं देती। पार्टियाँ अपनी ट्रेड यूनियन से जुड़े मजदूरों को केवल वोट बैंक समझती हैं। ट्रेड यूनियन और पूँजीवादी पार्टियों के बीच गठजोड़, केन्द्रीय नेतृत्व के निर्णय पर अधिक जोर, प्रबन्धन का मजदूर विरोधी रवैया और ट्रेड यूनियन में दूसरी कतार के नेतृत्व के अभाव ने ट्रेड यूनियन और सामान्य मजदूरों के बीच दूरी बढ़ा दी है। इन रवैयों को देखते हुए ज्यादातर मजदूर खुद को ट्रेड यूनियन की राजनीति से अलग रखना चाहते हैं। साथ ही, अपनी बढ़ती बदहाली से तंग आकर उनमें आक्रोश और राजनीतिक सरगर्मी बढ़ रही है। कई क्षेत्रों में मजदूरों ने परम्परागत यूनियनों से अलग होकर जुझारू ट्रेड यूनियनें बना ली हैं और कई स्थानों पर वे इस दिशा में प्रयासरत हैं। इन बातों ने बड़ी और पुरानी ट्रेड यूनियनों पर दबाव बढ़ा दिया। नीचे से उठने वाले मजदूरों के दबाव की अनदेखी करना इनके अस्तित्व के लिए खतरा साबित हो सकता है। लिहाजा उन्होंने निरर्थक वार्ताओं और सांकेतिक कार्रवाइयों से आगे बढ़कर आम हड़ताल का सहारा लिया। लेकिन जब तक मजदूर वर्ग अपने अन्दर से कुशल, ईमानदार संघर्ष की ओर जुझारू नेतृत्व पैदा नहीं करता और निर्णायक संघर्ष के लिए कमर नहीं कसता तो ऐसी रस्मी कार्रवाइयों से कुछ खास हासिल नहीं होने वाला।

आज दुनियाभर में आन्दोलन और हड़ताल की एक नयी लहर पैदा हो रही है। विश्व संकट की इस घड़ी में मेहनतकश वर्ग का जुझारूपन बढ़ता जा रहा है। उसे महसूस हो रहा है कि चुपचाप बर्दाशत करते रहना धीमी मौत मरना है। अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए इस उत्पीड़न का विरोध जरूरी है, जिसकी आज कोई सीमा नहीं है। दुनियाभर के पूँजीपतियों ने जो लूट मचा रखी है उसी का ही नतीजा है कि अमरीका और यूरोप से लेकर तीसरी दुनिया के देशों तक जनान्दोलनों की एक लहर उठ खड़ी हुई है। संख्या के हिसाब से आज मजदूर वर्ग दुनिया की सबसे बड़ी ताकत है। भारत में मजदूर वर्ग की संख्या लगभग 46 करोड़ है। लेकिन चेतना और संगठन के अभाव में अपने ऐतिहासिक कार्यभार को पूरा करना तो दूर, आज वह इतिहास के सबसे निर्मम शोषण-उत्पीड़न का शिकार है। दुनिया के इतिहास में मजदूर वर्ग की शानदार भूमिका रही है। लेकिन आज विश्व शक्ति संतुलन में पूँजीपति वर्ग का पलड़ा भारी है। यही कारण है कि मजदूर वर्ग के लिए एक-एक दिन गुजारना दूभर है। इस स्थिति को पलटने के लिए एक नयी शुरुआत करनी होगी। इतिहास से सबक सीखते हुए चेतना को उन्नत करके और जुझारू संगठन बनाकर ही मजदूर वर्ग अपना और दुनिया के दूसरे सभी मेहनतकशों की दुर्दशा का भी अन्त कर सकेगा।

❑

# कौन चुकाता है बजट कटौती की कीमत?

**-पारिजात**

वित्तमंत्री पी चिदम्बरम ने अपने बजट भाषण में वित्तीय घाटा कम करने पर जोर दिया और उस पर अमल करते हुए योजना व्यय में 90,000 करोड़ रुपये की कटौती कर दी। इसकी सफाई देते हुए उन्होंने कहा कि ''इस सदन में मौजूद हर वह व्यक्ति जिसे दुनिया भर में हो रही घटनाओं की जानकारी है वह जानता है कि इसके क्या परिणाम होते हैं।''

वित्तीय घाटा ऐसा घाटा है जो 1990 से पहले होता ही नहीं था। 1989-90 में देश गम्भीर आर्थिक संकट से गुजर रहा था फिर भी उस वर्ष के आर्थिक सर्वेक्षण में वित्तीय घाटे का जिक्र तक नहीं है। 1991 में अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष की छत्रछाया में किये गये ढाँचागत समायोजन कार्यक्रम को लागू करने के बाद से ही वित्तीय घाटे की चर्चा आम हो गयी। समाचार चैनलों और अखबारों में वित्तीय घाटे को कम न करने से उत्पन्न होने वाली विभीषिका की बारम्बार चर्चा ने इस शब्द को आम प्रचलन में ला दिया। हालाँकि ज्यादातर लोगों को जानकारी नहीं है कि वित्तीय घाटा क्या होता है। इसकी प्रकृति, कारण और नतीजे की सही-सही जानकारी के अभाव में इसे लेकर बहुत ही भ्रामक बातें फैलायी जाती रही हैं। इसके बहाने सरकारी खर्चों में कटौती करके आम जनता की जिन्दगी को रोज-ब-रोज नर्क की ओर धकेला जा रहा है।

सामान्य शब्दों में कहें तो वित्तीय घाटा सरकार द्वारा किये गये खर्च और सरकार की आय के बीच का अन्तर होता है। सरकार कृषि, ग्रामीण विकास, सिंचाई, ऊर्जा, उद्योग, सड़क, गृह, सामाजिक सेवाओं, शोध और सब्सिडी आदि में खर्च करती है। इसके लिए वह राजस्व कर , गैर-राजस्व कर, ब्याज, उधार से प्राप्त आय और विनिवेश से प्राप्त धन का इस्तेमाल करती है। यदि सरकारी खर्च उसकी आय से ज्यादा हो जाय तो अर्थव्यवस्था घाटे में आ जाती है। इसी घाटे को वित्तीय घाटा कहते हैं।

ढाँचागत समायोजन कार्यक्रम लागू करने से पहले तक सरकार नोट छापकर अपनी जरूरतें पूरी कर लिया करती थी। इससे उसे बजट घाटा होता था। लेकिन 1991 के बाद से बजट घाटे पर प्रतिबंध लगा दिया। अब अपने खर्चों की पूर्ति के लिए सरकार सीधे बाजार से कर्ज लेने लगी। इस उधारी की अर्थव्यवस्था ने उसके ऊपर वित्तीय घाटे का बोझ लाद दिया।

2012-13 के बजट के मुताबिक सरकार वित्तीय घाटे को सकल घरेलू उत्पाद (जीडीपी) के 5.1 प्रतिशत तक लाना चाहती है। मौजूदा हालात को देखते हुए सरकार के लिए इस लक्ष्य को पाना बहुत मुश्किल है। सरकारी समिति ने लक्ष्य प्राप्ति के लिए प्रस्ताव दिया है कि यदि सरकार जन सुविधाओं में निर्ममतापूर्वक भारी कटौती नहीं करती तो वित्तीय घाटा बढ़कर 6.1 फीसदी हो जायेगा। चिदम्बरम ने इस चुनौती को स्वीकार करते हुए कहा है कि ''मैं लक्ष्मण रेखा तय कर चुका हूँ और उसे नहीं लाँघूँगा। पिछले साल और इस साल भी मैंने इसे नहीं लाँघा। मैं इसे (वित्तीय घाटे) 4.8 प्रतिशत या इससे भी नीचे ला कर रहूँगा।''

वित्तीय घाटा दो ही परिस्थिति में हो सकता है।

1. विभिन्न स्रोतों से प्राप्त सरकारी आय में गिरावट
2. सार्वजनिक जन सुविधाओं में अधिक खर्च

वित्तवर्ष 2012-13 में उद्योग क्षेत्र में आयी भारी गिरावट के चलते राजस्व कर तथा गैर राजस्व कर में भारी कमी आयी। सरकार द्वारा पूँजीपतियों को दी गयी छूट के चलते सीमा शुल्क में लगभग 22,000 हजार करोड़ रुपये तथा आयात शुल्क में लगभग इतनी ही कमी आयी है। सरकार ने कॉरपोरेट आय कर 14,000 करोड़ रुपये कम वसूल किये। दूसरी ओर निजी आयकर तथा सेवा शुल्क से निर्धारित लक्ष्य से ज्यादा आमदनी हुई, लेकिन कुल मिलाकर सरकारी आय में 29,000 करोड़ रुपये की कमी आयी।

कॉरपोरेट क्षेत्र को कर में भारी छूट देते हुए सरकार ने वित्त वर्ष 2012-13 में कॉरपोरेट कर में 68,007 करोड़ रुपये तथा पूँजीपतियों से 45,464 करोड़ रुपये की कम वसूली की। इसी दौरान निर्यात शुल्क में 2,06,188 करोड़ रुपये और आयात शुल्क में 2,53,967 करोड़ रुपये की छूट दी गयी। पूँजीपतियों व कॉरपोरेट घरानों को आयात-निर्यात शुल्क में भारी छूट देने के पीछे सरकार ने तर्क दिया कि इससे उपभोक्ताओं को कम दाम पर सामान मिलेगा, लेकिन कॉरपोरेट और कम्पनियों को कम दाम में सामान बेचने पर वह राजी नहीं करा पायी।

अमीरों का हितैषी होने के रूप में ज्ञात वित्तमंत्री ने एक

करोड़ रुपये से ज्यादा आय वाले पूँजीपतियों और कॉरपोरेट घरानों के प्रत्यक्ष कर में 5 से 10 प्रतिशत का सरचार्ज लगाकर अपने ऊपर लगे आरोपों से बचने का प्रयास भले ही किया हो, लेकिन यह सरचार्ज इतना मामूली था कि इससे प्रभावित होने वालों ने इस पर चर्चा करना भी मुनासिब नहीं समझा। अगले ही पल वित्तमंत्री महोदय ने बड़े कॉरपोरेशनों पर कर भार कम करते हुए 100 करोड़ के निवेश वाले उद्योगों को 15 प्रतिशत की छूट दे दी। ऊर्जा कार्यों को अप्रैल 2014 तक आयकर कानून के तहत कर में भारी छूट दी जायेगी।

सरकार की आमदनी का अन्य जरिया विनिवेश है। सार्वजनिक उपक्रम में सरकारी हिस्सेदारी बेच कर धन कमाने के मामले में भी पूँजीपतियों और कॉरपोरेट घरानों पर सरकार ने कृपादृष्टि बनाये रखी। एक ही 2जी घोटाले में 1,76,000 करोड़ रुपये का नुकसान हुआ। घाटा उठाकर माल बेचने में सरकार की यह अदभुत उदारता अभी भी जारी है। सार्वजनिक क्षेत्र के कितने ही उपक्रमों (सेल, भेल, बीएसएनएल) की हिस्सेदारी वह बाजार भाव से भी बहुत कम दाम पर बेच चुकी है।

पूँजीपतियों से टैक्स वसूल कर अपनी आय के स्रोत बढ़ाने और वित्तीय घाटा कम करने की जगह सरकार ने दूसरा रास्ता अपनाया-- सार्वजनिक खर्चों में कटौती। सरकार ने सबसे पहले योजनाव्यय में जीडीपी के 17.6 प्रतिशत कटौती कर दी। कृषि क्षेत्र को पहले ही विदेशी दैत्यों के लिए खोलने के बाद इस क्षेत्र के लिए सालाना बजट में 9.5 प्रतिशत की कटौती कर दी। ग्रामीण विकास में 12.7 प्रतिशत, सिंचाई और बाढ़ नियंत्रण में 66.4 प्रतिशत, ऊर्जा क्षेत्र में 43.1 प्रतिशत, उद्योग और खनिज में 29.3 प्रतिशत, ग्रामीण और लघु उद्योग में 36 प्रतिशत शिक्षा में 8.1 प्रतिशत, चिकित्सा एवं जन जन स्वास्थ्य में 15.2 प्रतिशत की कटौती कर दी गयी। इस तरह योजनाव्यय में कुल 91,838 करोड़ रुपये की कटौती कर के सरकार ने पूँजीपतियों को दी गयी राहत का बोझ जनता पर लाद दिया।

संप्रग ने अपने न्यूनतम साझा कार्यक्रम 2004 में वादा किया था कि सरकार सार्वजनिक स्वास्थ्य के मद में जीडीपी का 2 से 3 प्रतिशत खर्च करेगी। जिससे मुकरते हुए इसे घटाकर 1.29 प्रतिशत कर दिया। राष्ट्रीय परिवार स्वास्थ्य सर्वेक्षण 2005-06 की रिपोर्ट के मुताबिक ''5 साल से कम आयु के लगभग 48 प्रतिशत बच्चों का विकास बाधित है और 43 प्रतिशत बच्चों का वजन बहुत ही कम है। 6 से 59 माह के 10 में से 7 बच्चे खून की कमी के शिकार हैं। 55 प्रतिशत महिलाएँ और 24 प्रतिशत पुरुष खून की कमी एनिमिया से ग्रस्त हैं। आर्थिक सर्वेक्षण 2012-13 की रिपोर्ट के अनुसार ''जीडीपी के अनुपात में स्वास्थ्य के मामले में भारत का खर्च उभरती हुई अर्थव्यवस्थाओं और विकसित देशों के मुकाबले बहुत ही कम है। ब्रिक्स देशों (ब्राजील, रूस, भारत, चीन और दक्षिण अफ्रीका) के समूह में भी इस मद में भारत का खर्च सबसे कम है।'' इस समस्या को हल करने के बजाय सरकार ने स्वास्थ्य बजट में ही कटौती कर दी।

बजट भाषण में वित्तमंत्री ने खुद अपनी पीठ ठोकते हुए कहा कि ''हम उन गर्भवती महिलाओं के चेहरे पर मुस्कान देखते हैं जो बच्चे के जन्म से पहले और बाद में जच्चे-बच्चे की देखभाल को लेकर सरकारी सेवाओं के प्रति आश्वस्त हैं।'' अपने इस मार्मिक शब्द जाल की आड़ में उन्होंने 2012-13 के बजट में इंदिरा गाँधी मातृत्व सहयोग योजना से 84 प्रतिशत की बजट कटौती कर इसके लिए निर्धारित 468 करोड़ की राशि को घटाकर 76 करोड़ कर दिया।

चिदम्बरम ने आगे कहा कि ''हम अपने चारों ओर उन दलित लड़कियों और आदिवासी लड़कों के चेहरों पर मुस्कान देखते हैं जिन्हें छात्रवृति मिल चुकी है।'' वित्तमंत्री को शायद यह मुस्कान नागवार गुजरी, क्योंकि 2012-13 के बजट में उन्होंने अनुसूचित जाति कल्याण (मुख्यतः शिक्षा, छात्रवृति और छात्रावास के लिए आवंटित) में 10 प्रतिशत की कटौती कर दी। इसके लिए आवंटित राशि को 4,034 करोड़ से घटाकर 3623 करोड़ रुपये कर दिया। अनुसूचित जनजाति कल्याण के लिए आवंटित बजट में 24 प्रतिशत की कटौती कर इसे 4090 करोड़ रुपये से घटाकर 3100 करोड़ रुपये कर दिया।

वित्तीय घाटा कम करने के लिए वित्तमंत्री ने आम जन सुविधाओं में निर्मम कटौती करके लक्ष्मण रेखा पार न करने की अपनी प्रतिज्ञा का पालन किया।

देश की जनता को वित्तीय घाटे का खौफ दिखाकर सार्वजनिक खर्चों में कटौती करके वित्तमंत्री ने विदेशी संस्थागत निवेशकों के सम्मुख देशी अर्थव्यवस्था की तंदरुस्ती का असली हाल प्रदर्शित किया। अपनी हालिया विदेश यात्रा में सिंगापुर, हाँगकाँग, लंदन, फ्रैंकफुर्ट में विदेशी निवेशकों को रिझाते हुए वित्तमंत्री ने बताया, जीडीपी प्रतिशत में सरकारी घाटा तेजी से कम हो रहा है। सरकारी कर्ज 13वें वित्त आयोग द्वारा निर्धारित लक्ष्य से काफी कम हो चुका है। विकसित अर्थव्यवस्थाओं, उभरती हुई अर्थव्यवस्थाओं और यहाँ तक कि सब-सहारा अफ्रीकी अर्थव्यवस्थाओं की तुलना में सार्वजनिक सेवाओं की मद में भारत सरकार का खर्च काफी कम रहा है।

अपने बजट भाषण में वित्तमंत्री ने कहा कि ''अवरुद्ध अर्थव्यवस्था में करों की दर बढ़ाने या अतिरिक्त राजस्व कर बढ़ाने की बहुत कम गुंजाइश होती है।'' साथ ही भारतीय जनता के सामने शिकायत के लहजे में अपना दुःख प्रकट करते हुए चिदम्बरम ने कहा कि ''भारत में जीडीपी की तुलना में कर किसी भी बड़े विकासशील देश की तुलना में सबसे कम है और समायोजित व टिकाऊ विकास के लिए हम पर्याप्त स्रोत इकठ्ठा नहीं कर पायेंगे।'' लेकिन विदेशी निवेशकों को रिझाने के लिए उनके सामने न्यूनतम कर के लाभ गिनाते हुए वित्तमंत्री की भाषा बदल गयी। उन्होंने कहा कि ''उभरते हुए बाजारों में भारत बेहद पसंदीदा कर क्षेत्रों में से है जो व्यापार में तरक्की का मुख्य कारक है।'' पूँजीपतियों को राहत देते हुए खुद अपनी आय घटाना और फिर अभाव व उधारी का रोना रोने का भला क्या मतलब है।

वित्तीय वर्ष 2012-13 में पूँजीपतियों और कॉरपोरेट घरानों को विभिन्न तरीकों से कुल राजस्व कर में जितनी छूट दी गयी, उसे वसूल किया जाता तो 5,20,925 करोड़ रुपये का वित्तीय घाटा ना होकर उलटे सरकार की तिजोरी में 5,3,00 करोड़ से अधिक जमा होता। सरकार कर वसूली कर वित्तीय घाटे को पाट सकती थी और नारकीय जीवन जी रही जनता को राहत दे सकती थी, लेकिन सरकार ने घाटे का बोझ जनता पर लाद दिया।

हमारी सरकार जिन नीतियों को अपना कर बजट घाटा कम करती जा रही है वह उसका कोई मौलिक प्रयोग नहीं है। इन्हीं नीतियों का अनुसरण कर स्पेन में बेरोजगारी दर बढ़ कर 27 प्रतिशत पहुँच गयी है। देश के 57 फीसदी नौजवान बेरोजगार हैं। फ्रांस में बेरोजगारी दर 1977 के बाद से सबसे निचले स्तर, 14 प्रतिशत पर पहुँच गयी है। ये नीतियाँ हमारे देश को और भी ज्यादा तबाह करने वाली होंगी। इनसे रोजगार में तो कमी आयेगी ही, साथ ही साथ आम जनता का जीवन सीधे प्रभावित होगा। मानव विकास सूचकांक में अभी हमारा देश 136वें स्थान पर है। कल्पना कीजिये कि बेरोजगारों की नयी खेप इसे और रसातल में पहुँचा देगी।

कुछ साल पहले गरीबी दूर करने का कारगर उपाय सुझाते हुए प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह ने ट्रिकिल डाउन योजना का दिलासा दिया था। मनमोहन सिंह का मानना था कि अमीरी टपक कर गरीबों की झोली में भी गिरेगी। लेकिन हकीकत में वे पहले से ही बदहाल गरीबों की वंचना पर अमीरों की अमीरी बरकरार रखने की राह पर चल रहे हैं। सरकार ऊपर से टपकाने की जगह नीचे से चूसने की नीति अपना रही है। ❑

## विदेशों से कर्ज लेकर सूदखोरी और सट्टेबाजी

मुकेश अम्बानी की कम्पनी रिलायंस इंडस्ट्री ने वित्तीय बाजीगरी के जरिये हजारों करोड़ का वारा-न्यारा किया। दुनिया भर में इस कंपनी की रेटिंग भारत की शाख से भी ऊपर है। सन 2012 में इस कम्पनी ने अपनी इस स्थिति का फायदा उठाते हुए विदेशों से बहुत कम ब्याज दर पर 72,266 करोड़ रुपये का कर्ज लिया। भारत में कर्ज पर ब्याज दर अधिक है। इसीलिए किसी उत्पादक कार्रवाई में निवेश करने की जगह उसी धन को ऊँचे ब्याज दर पर कर्ज देकर खूब मुनाफा कमाया।

रिलायंस जैसी 54 अन्य कंपनियों ने विदेशों से कम ब्याज दर पर उधार लेकर अनुत्पादक कार्यों में निवेश किया। इनकी बढती परिजीविता का आलम यह है कि सन 2007 से 2011 में भूमि और उद्योग जैसी स्थाई सम्पत्ति में निवेश 38.5 प्रतिशत से गिरकर 33 प्रतिशत पर आ गया जबकि कर्ज और वित्तीय उपकरणों में निवेश बढ़कर 40.5 प्रतिशत से 45.7 प्रतिशत तक पहुँच गया। इन कंपनियों के विशेषज्ञ शेयर बाजार के अनुकूल निवेश पर नजरें गड़ाये रहते हैं और गैर कानूनी तरीका इस्तेमाल करके मुनाफा कमाने से भी बाज नहीं आते। कानून के चोर दरवाजे से निकलकर भागने में ये कुशल होते हैं। इस तरह ये बड़े निगम अनुत्पादक कार्रवाइयों में निवेश करके रुपया से रुपया बनाते हैं। इन कंपनियों के पास पूँजी की कोई कमी नहीं होती, लेकिन उत्पादन में मुनाफे की दर कम होने के कारण ये इसमें निवेश से हमेशा कतराती हैं। यही है कि बड़ी संख्या में रोजगार देने वाले लघु उद्योग पूँजी की कमी से जूझ रहे हैं।

कुल उत्पादन में असंगठित क्षेत्र का योगदान 27 प्रतिशत है जिसमें उत्पादन क्षेत्र के 80 प्रतिशत मजदूर काम करते हैं। इतनी बड़ी संख्या में मजदूरों को रोजगार देने वाले असंगठित क्षेत्र में 2004 के 9.7 प्रतिशत निवेश की तुलना में 2011 में निवेश मात्र 3 प्रतिशत रह गया। उत्पादन क्षेत्र संकट ग्रस्त होने के कारण इनमें काम करने वाले मजदूरों की स्थिति खराब चल रही है। किसी देश की धन-सम्पदा में बढ़ोत्तरी का सीधा सम्बन्ध उत्पादन में वृद्धि से है। इससे साफ जाहिर है कि बड़े निगमों द्वारा उत्पादन में निवेश घटाने के कारण असली अर्थव्यवस्था संकट का शिकार बनती जा रही है और बेरोजगारी बढ़ रही है क्योंकि वित्तीय क्षेत्र में विकास रोजगारविहीन होता है।

ये बड़े निगम उन अमीर किसानों जैसे हैं जो क्रेडिट कार्ड पर बैंकों से सस्ते दर पर कर्ज लेकर गरीबों को 10 गुनी ऊँची ब्याज दर उठा देते हैं और बिना कुछ किये लोगों का खून चूसकर मुनाफा कमाते हैं। ❑

# मारग्रेट थैचर : एक विभाजक व्यक्तित्व

**–गिरीश मिश्र**

ब्रिटेन की एकमात्र महिला प्रधानमंत्री रह चुकी, मारग्रेट थैचर का 87 वर्ष की उम्र में 8 अप्रैल को निधन हो गया। वे 1979 से 1990 तक यानी ग्यारह वर्ष ब्रिटेन की शासनाध्यक्ष रहीं। पूर्वी इंग्लैण्ड के एक छोटे से शहर के एक साधारण पंसारी की बेटी के रूप में 1925 में जन्मी थैचर ने प्रधानमंत्री पद पर आसीन होकर न सिर्फ ब्रिटेन बल्कि पूँजीवादी व्यवस्था को एक नयी दिशा देने की कोशिश की। उनके पहले और बाद में अनेक महत्त्वपूर्ण व्यक्ति ब्रिटेन के प्रधानमंत्री बने और गये मगर किसी ने अपने जीवनकाल में किसी 'वाद' या विचारधारा का प्रतिपादित नहीं किया। विंस्टन चर्चिल को द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान फासीवाद को पराजित करने में उनके अहम नेतृत्व के लिए याद किया जाता है मगर वे भी कोई सुस्पष्ट विचारधारा या वाद नहीं छोड़ गए।

कहना न होगा कि थैचरवाद के कारण ही मारग्रेट को जहाँ ब्रिटेन और उसके बाहर कुछ लोग सम्मान की नजर से देखते हैं वहीं दूसरे लोग उनके प्रति तिरस्कार की भावना व्यक्त करते हैं। उनकी मृत्यु के बाद जहाँ ढेर सारे लोगों ने उनके शव पर फूल चढ़ाए और श्रद्धांजलि अर्पित की वहीं कई अन्य ने 'रस्ट इन पीस' (शान्ति से सड़ो) के नारे लगाए तथा दफन के लिए उनके शव को ले जाते समय उस पर अंडे फेंके। स्पष्ट है कि उनका व्यक्तित्व सामाजिक दृष्टि से विभाजक रहा। उनके थैचरवाद ने जहाँ समाज के ऊपरी पायदान पर काबिज लोगों का भला किया वहीं निचले तबकों खासकर मेहनतकशों का अहित किया।

दार्शनिक ए सी ग्रेलिंग ने उनकी तुलना 19वीं सदी के ब्रिटिश प्रधानमंत्री लॉर्ड लीवरपूल से की है। वे 15 वर्षों (1812-1827) तक शासनाध्यक्ष रहे। उनकी जिन्दगी का शानदार समय तब रहा जब वाटरलू में नेपोलियन को हरा दिया गया। उनके जीवन का अपकर्ष तब आया जब मैंचेस्टर स्थित सेंट पीटर्स के मैदान में ऊँची मजदूरी, काम की बेहतर स्थितियों और मताधिकार की माँग कर रहे श्रमिकों पर ब्रिटिश सशस्त्र बलों के जरिये हमले किये गये। इसी को देखते हुए लीवरपूल के लिए 'वाटरलू से पीटरलू की यात्रा' शब्दों का इस्तेमाल किया जाता है। जहाँ तक थैचर का सवाल है 1980 के दशक को हम उनका उत्कर्षकाल या वाटरलू कह सकते हैं मगर जब उनकी मृत्यु हुई है तब निश्चित रूप से उनका अपकर्ष का दौर है। ग्रेलिंग के अनुसार उनके तथाकथित सुधारों, विशेषकर बैंकिंग को बेलगाम किए जाने का वर्तमान भूमण्डलीय महामंदी को लाने में भारी हाथ रहा है। वर्ष 2008 में शुरू हुई महामंदी जाने का नाम नहीं ले रही है। उन्होंने 1945 के बाद सामाजिक एकीकरण तथा आर्थिक विषमता में ह्रास की जो प्रवृत्ति ब्रिटेन में चल रही थी उसको विपरीत दिशा में मोड़ दिया। पाठक इस लेख को 'न्यूयार्क टाइम्स' के भूमण्डलीय संस्करण 'इंटरनेशनल हेराल्ड ट्रिब्यून' (10 अप्रैल) में देख सकते हैं।

ब्रिटिश दैनिक 'द गार्जियन' (16 अप्रैल) में इससे कहीं अधिक सख्त लेख सिउमास मिल्न का छपा है जिसका शीर्षक है : 'समय आ गया है कि न सिर्फ थैचर को बल्कि थैचरवाद को दफना दिया जाय'। उन्होंने थैचर को ब्रिटिश इतिहास का सामाजिक दृष्टि से सबसे विध्वंसकारी प्रधानमंत्री बताया है। उनकी अंत्येष्टि पर होने वाले एक करोड़ पौंड के खर्च को सार्वजनिक धन का अपव्यय बतलाया है। उनकी नीतियों से लाखों-लाख लोगों की जिन्दगी बरबाद हुई जिसका ख्याल किया जाना चाहिए था। थैचर की अविनियमन की नीति, निजीकरण और करों में उदारतापूर्वक छूट से धनवानों का ही भला हुआ। आर्थिक विषमता में भारी इजाफा हुआ, विऔद्योगीकरण बढ़ा, आम बेरोजगारी बेतहाशा बढ़ी जिससे सामाजिक एकता छिन्न-भिन्न हो गयी। सार्वजनिक सेवाएँ बुरी तरह प्रभावित हुईं, सामाजिक गतिशीलता घटी, बच्चों की दुर्दशा बढ़ी। लेखक के अनुसार ढिंढोरा पीटने के बावजूद आर्थिक संवृद्धि की दर और वास्तविक आय में गिरावट आयी।

थैचर के प्रशंसकों की भी कोई कमी नहीं है। उनका एक अडिग समर्थक है प्रतिष्ठित साप्ताहिक 'दी इकॉनमिस्ट' जिसने अपने 13 अप्रैल के अंक में संपादकीय के अतिरिक्त तीन लेख छापे हैं जिनमें उनकी प्रशस्ति की गयी है। उनको स्वतंत्रता सेनानी बतलाते हुए जोर दिया गया है कि संसार को उनके सिद्धांतों का अनुसरण करना चाहिए क्योंकि उनके बतलाएँ

रास्ते को अपनाकर ही सबका कल्याण होगा। निजीकरण को लेकर उन्होंने जो उत्साह दिखलाया, जिससे भूमंडलीय क्रांति हुई और उनके द्वारा निरंकुशता के विरोध के कारण ही सोवियत संघ का खात्मा हुआ। विंस्टन चर्चिल ने लड़ाई जीती मगर कोई वाद नहीं बनाया मगर थैचरवाद का डंका दुनिया भर में बजा। उसने यथास्थितिवाद का विरोध किया और रेखांकित किया कि कोई भी राष्ट्र तभी महान बन सकता है जब व्यक्तियों को पूरी स्वतंत्रता मिले।

उनको नया मार्ग बनाने का श्रेय दिया गया है जिसने न सिर्फ ब्रिटेन को, बल्कि सारे विश्व को घने अंधेरे से निकालकर रोशनी दिखलाई और प्रगति की ओर बढ़ाया। उनकी नीतियों के कारण ही आर्थिक जड़ता और उच्च मुद्रास्फीति पर पार पाया जा सका। उन्होंने अनुशासनहीन श्रमिकों और उनके संगठनों को काबू किया और अकुशल सार्वजनिक उद्यमों का निजीरकण किया। इस प्रकार उद्यमिता की संस्कृति को बढ़ावा दिया। उनका इतना असर हुआ कि लेबर पार्टी के प्रधानमंत्री टोनी ब्लेयर ने उनकी नीतियों को न्यू लेबर के तहत आगे बढ़ाया।

इतिहासकार नायल फर्गुसन के अनुसार थैचर के आने के पहले इंग्लैण्ड भविष्यविहीन लगता था। कुछ भी कारगर नहीं लगता था। रेल गाड़ियाँ हमेशा विलम्ब से चलती थीं। पब्लिक फोन व्यवस्था बेकार हो गयी थी। कीमतें तेजी से बढ़ रही थीं। आए दिन मजदूर हड़ताल पर चले जाते थे। मई 1979 में थैचर प्रधानमंत्री बनीं तब हड़तालों में लगातार तेजी का दौर था। सितम्बर 1979 में हड़तालों से 120 लाख कार्य दिवस हड़तालों की बलि चढ़ गये जबकि ठीक साल भर पूर्व यह आँकड़ा 8000 कार्यदिवस था। फर्गुसन के अनुसार, 'थैचर ने इस निराशा भरे माहौल से मुक्ति दिलायी। आशा का संचार किया। उन्होंने कीमत, मजदूरी और विनिमय को नियंत्रण मुक्त किया। मौद्रिक नीति के जरिये मुद्रा स्फीति को काबू किया। लेबर पार्टी की सरकार द्वारा जिन उद्यमों का राष्ट्रीयकरण किया गया था उनका निजीकरण किया। आयकर की दरों में कटौती की तथा 1984-85 में खनकों की हड़ताल का दमन कर बतला दिया कि वे मजदूर संगठनों के आगे नहीं झुकने वाली हैं। उन्हें विरोध की कोई फिक्र नहीं हुई। जून 1980 में उन्होंने रेखांकित किया कि उनके द्वारा अपनायी गयी नीतियों का कोई विकल्प नहीं है। कुछ वर्षों पहले उन्होंने लेबर पार्टी को एक खास बीमारी से ग्रस्त बतलाया था। वह बीमारी थी-सार्वजनिक धन को बरबाद करने की।' उनके अनुसार हर व्यक्ति को यह अधिकार होना चाहिए कि वह मनपसंद पेशा चुने और काम करे, अपनी अर्जित आय को इच्छानुसार खर्च करे तथा संपत्ति रखे। राज्य की भूमिका लोगों के सेवक की होनी चाहिए न कि मालिक की। उनकी दृष्टि में यही था मुक्त अर्थव्यवस्था का सारतत्व। उनको यह अहसास था कि उनके इस दृष्टिकोण का घोर विरोध हो सकता था। उन्होंने स्वयं रेखांकित किया कि बिना कठिनाई का सामना किये कुछ भी हासिल नहीं किया जा सकता।

थैचरवाद नवउदारवाद का ही पर्याय है। नवउदारवाद को हाशिये से उठाकर केन्द्र में लाने का श्रेय थैचर और रीगन को जाता है। बाद में अन्य देशों के राजनेता उससे जुड़े। जिन अर्थशास्त्रियों ने नवउदारवाद की व्याख्या की और विवेचना की उनमें लुडविग फॉन मिजेज, फ्रेडरिक हायेक और मिल्टन फ्रीडमैन अग्रणी थे। कहते हैं कि हायेक थैचर के सबसे प्रिय गुरु थे और उनकी पुस्तक 'द रोड टू सर्फडम' वे हमेशा अपने हैंड बैग में रखती थीं। इस पुस्तक में नवउदारवादी चिंतन की रूपरेखा प्रस्तुत की गयी थी। वर्ष 1944 में प्रकाशित इस पुस्तक में समाजवादी व्यवस्था को लक्ष्य कर कहा गया था कि यह रास्ता लोगों को कृषिदास बना देगा। हर जगह राज्य की आर्थिक भूमिका बढ़ती ही जायेगी। सोवियत संघ में केन्द्रीय नियोजन, जर्मनी और इटली में फासीवाद तथा पश्चिमी यूरोप एवं अमेरिका में महामंदी के बाद सामाजिक जनतंत्र हावी था, जिससे व्यक्ति की स्वतंत्रता और उद्यमिता खतरे में पड़ रही थी। हायेक ने रेखांकित किया कि समाजवादी इस दुःखद भ्रांति के शिकार हैं कि व्यक्ति को शक्तिहीन बना समाज के अधीन लाने तथा आर्थिक कार्यकलापों को एक ही योजना के तहत लाने से सबका भला होगा। वस्तुतः यह विनाशकारी सिद्ध होगा, क्योंकि व्यक्ति को रोजगार चुनने और उद्यमिता प्रदर्शित करने का अवसर नहीं मिलेगा।

हायेक का मानना था कि समाजवाद की अवधारणा सत्तात्मकता से जुड़ी रही है। जनतंत्र और समाजवाद साथ-साथ नहीं चल सकते, क्योंकि जनतंत्र व्यक्तिगत स्वतंत्रता का विस्तार करता है जबकि समाजवाद व्यक्ति को एक एजेंट मात्र मानता है। नियोजन तानाशाही की ओर ले जाता है जिसके फलस्वरूप आमजन का उत्पीड़न होता है।

हायेक की शिष्या थैचर मई 1979 में सत्तारूढ़ हुईं और उन्होंने व्यापक सुधार के जनादेश का दावा किया। लंदन स्थित नवउदारवादी प्रतिबद्धता वाले जो सेफ कीथ और अल्फ्रेड शर्मन उनके पथ प्रदर्शक बने। जिनके परामर्श को अपनाकर उन्होंने

कींसवाद को अलविदा कहा और नवउदारवादी नुस्खा अपनाया। इस तरह उन्होंने द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद अपनाये गये सामाजिक जनतांत्रिक राज्य से जुड़े संस्थानों और राजनीतिक तौर-तरीकों की जड़ें खोदनी शुरू कीं। इसका मतलब साफ था --श्रमिक संघों से टकराव मोल लेना, सामाजिक एकजुटता के उन सब रूपों पर प्रहार करना जो मुक्त प्रतिद्वंद्विता के आड़े आ रहे थे, कल्याणकारी राज्य की समाप्ति, सामाजिक आवास सहित सभी सार्वजनिक उद्यमों का निजीकरण, करों में कमी, उद्यमिता को प्रोत्साहन और विदेशी निवेश के आने का मार्ग प्रशस्त करना। थैचर ने डंके की चोट पर कहा कि समाज जैसी कोई चीज नहीं है, केवल अलग-अलग पुरुष एवं स्त्रियाँ हैं, जिनके साथ उनके परिवार हैं। इस प्रकार सामाजिक एकजुटता को अपने सब रूपों में व्यक्तिवाद, निजी संपत्ति, वैयक्तिक जिम्मेदारी, पारिवारिक मूल्यों आदि की वेदी पर बलि दी जानी चाहिए।

कालक्रम में नवउदारवाद की गाड़ी आर्थिक संकट के दलदल में फंस गयी जिससे निकलने के आसार निकट भविष्य में नजर नहीं आ रहे। पहले दक्षिणी अमेरिकी देशों ने नवउदारवाद को ठुकराया फिर अन्यत्र उसके भयावह परिणामों को देखते हुए पुनर्चिंतन आरंभ हुआ। ब्रिटेन में थैचर की पार्टी और उनके उत्तराधिकारी जॉन मेजर को हार के मुंह देखने पड़े। अमेरिका में भी रीगन की रिपब्लिकन पार्टी सत्ता से बाहर हो गयी। जहाँ भी नवउदारवाद अपनाया गया वहाँ आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक विध्वंस के रास्ते खुले। आप अपने ही देश में नजर दौड़ा कर देखें और सोचें कि बढ़ती महँगाई, आर्थिक विषमता, क्षेत्रीय असंतुलन, भ्रष्टाचार, तरह-तरह के आपराधिक कृत्यों आदि के पीछे क्या नवउदारवाद नहीं है?

**(देश बन्धु से साभार)** ❑

# पत्रकारिता के चारण-भाँट

ब्रिटिश साप्ताहिक 'द इकोनोमिस्ट' ने पिछले दो अंकों में ह्यूगो शावेज और मारग्रेट थैचर की मौत पर आवरण कथा प्रकाशित की है। मुखपृष्ठ पर बने ह्यूगो शावेज के चित्र के नीचे शीर्षक दिया है- 'सड़ी-गली विरासत', जबकि मारग्रेट थैचर के चित्र के शीर्षक में उन्हें 'स्वतन्त्रता सेनानी' बताया गया है।

## सच्चाई क्या है?

वेनेजुएला के पूर्व राष्ट्रपति ह्यूगो शावेज की 5 मार्च 2013 को कैंसर से झूझते हुए 58 वर्ष की अल्पायु में मृत्यु हो गयी। शावेज ने अपने 13 वर्ष के शासन काल में वेनेजुएला की गरीबी आधी कर दी, देश की तेल सम्पदा को मुट्ठी भर मुनाफाखोर तेल कम्पनियों से छीन कर उसका उपयोग अस्पताल, स्कूल और गरीबों के लिए आवास बनाने में किया। उन्होंने बोलिवियाई क्रान्ति को पुनर्जीवित किया और लोकतंत्र को मजबूत बनाने के लिए सामुदायिक परिषद की अवधारणा को व्यवहार में लागू किया। लाटिन अमरीकी देशों को अमरीकी साम्राज्यवाद के प्रभाव से बचाने और आपसी सहकार को बढ़ाने तथा उनके बीच एकजुटता कायम करने के लिए वे जीवन भर प्रयासरत रहे। यही कारण है कि वेनेजुएला की ही नहीं, बल्कि लातिन अमरीका की बहुसंख्य जनता और दुनिया भर में न्याय और समता के समर्थक उन्हें प्यार करते हैं। गजब नहीं कि साम्राज्यवादियों के भाड़े के कदम के कुली-कबाड़ी अखबारनवीश उनकी विरासत से खार खायें और बदहवासी में बड़बढ़ायें।

अब जरा मारग्रेट थैचर के कारनामों पर भी एक नजर डाल लें, जिनकी 8 अप्रैल 2013 को 87 साल की उम्र में मृत्यु हुई। थैचर ने नग्न पूँजीवादी लूट के जिस नये अर्थतंत्र की शुरुआत की, वह थैचोनोमिक्स के नाम से कुख्यात है। इसी का झंडा लिये उन्होंने ब्रिटेन में कल्याणकारी सेवाओं पर सीधा हमला किया, जिसका सबसे ज्यादा असर गरीबों और बुजुर्गों पर पड़ा। उन्होंने पूँजीपति वर्ग की ओर से मजदूरों पर वर्ग युद्ध थोपते हुए वहाँ के मजदूर संगठनों की रीढ़ तोड़ दी। उन्होंने ब्रिटिश उद्योगों को तबाह किया और लन्दन शहर का वित्तीयकरण किया। नतीजा यह हुआ कि लन्दन शहर भ्रष्टाचार, अवैध कमाई, घोटाला और जुआरी बैंकों का अड्डा बन गया। वित्तीय संचार का बीज थ्रेचर ने ही बोया था, जब उन्होंने ब्रिटिश उद्योग और बैंकिंग व्यवसाय को नियंत्रणमुक्त करने का लक्ष्य निर्धारित किया। उन्होंने नेल्सन मण्डेला की अमरीकी नेशनल कांग्रेस पार्टी को आतंकवादी कहा और दक्षिण अफ्रीका की रंगभेदी सरकार पर प्रतिबन्ध का समर्थन नहीं किया। साम्राज्यवाद के भोंपू, इस ब्रिटिश पत्रिका ने उन्हें 'स्वतन्त्रता सेनानी' का खिताब क्यों दिया, यह आसानी से समझा जा सकता है।

सामंती राजाओं का कोई चारण-भाँट भी 'स्वतंत्र, निष्पक्ष और प्रबुद्ध' पत्रकारिता के इस अद्भुत नमूने को देखकर दंग रह जाता। ❑

# जातीय भावना का ढाँचा

**–अनिल चमड़िया**

आशीष नंदी ने भारतीय समाज की उत्पीड़ित, शोषित जातियों की पृष्ठभूमि वाले राजनेताओं और शासन के ढाँचे में उनकी उपस्थिति को भ्रष्टाचार के मुख्य कारणों में एक माना। आशीष नंदी की तरफ से सफाई आयी कि उनका कहने का आशय वह नहीं था जो समझा जा रहा है। उनसे ज्यादा उनके वकीलों ने उनकी पैरवी की। उस पैरवी का आधार आशीष नंदी के अकादमिक कार्यों को बनाया गया। हर अच्छा वकील अपने मुवक्किल को बेहद अच्छे आचरण, संस्कारवान और जिम्मेदार बताने के लिए उसकी पृष्ठभूमि को पेश करता है। उसकी कोशिश यह होती है कि उसके मुवक्किल को जैसा समझा जा रहा है, वैसा नहीं समझा जाय। आशीष नंदी के पक्ष में वकालत करने वाले कई उदार और प्रगतिशील लोगों ने यह मानने से साफ मना कर दिया कि नंदी को वे कतई जातिवादी मान सकते हैं। मैं भी यह मान सकता हूँ कि आशीष नंदी जातिवादी नहीं हो सकते हैं।

हमारे समाज में जातिवादी, साम्प्रदायिक होने के कई तौर-तरीके उपलब्ध हैं। कई नेता ऐसे हो सकते हैं जो नास्तिक हों और हिन्दुत्व की राजनीति करते हों। जिन्ना भी नास्तिक थे और वे इस्लाम पर आधारित पाकिस्तान की वकालत करते थे। गाँधी वर्णवादी थे, लेकिन छूआछूत का विरोध करते थे। वे खुद को धर्म से हिन्दू भी कहते थे और धर्मनिरपेक्षता की बात करते थे। जातिवादी धर्मनिरपेक्षता की वकालत करते दिख सकता है। उसी तरह धर्मनिरपेक्षता की बात करने वाले जातिवादी हो सकते हैं। बहुतेरे लोग ऐसे हैं जो सार्वजनिक मंचों पर जातिवाद का विरोध करते हैं, लेकिन अपने व्यक्तिगत और पारिवारिक जीवन में जातिवादी हैं। जाति पर अकादमिक कार्य करने वाले बहुतेरे शिक्षक ऐसे हैं जो जातिवादी हैं। इस तरह न जाने कितने-कितने तरीके भारतीय समाज में ईजाद हुए हैं।

इसी तरह जातिवाद की पहचान करने के भी कई तरीके हैं। संभव है कि व्यक्ति जातिवादी नहीं हो, लेकिन भारतीय समाज में उसकी मानसिकता की जिस तरह बुनाई की गयी है, उसमें जाति बुरी तरह से गुंथी हुई हो। आखिर हम किसी व्यक्ति की जाति की पहचान किस-किस तरह से करने की कोशिश करते हैं। बोलने-चालने, उठने-बैठने, पहनने, पेशे, सोच के आयामों आदि कई-कई तरह की अभिव्यक्तियों में जाति की तलाश कर लेते हैं। यानी जाति कोई नाम के साथ लगने वाला शीर्षक ही नहीं है। वह पूरी एक संरचना है और वह अपनी जटिल संरचनाओं की वजह से ही भारतीय समाज में इतने लंबे समय से न केवल टिकी हुई है, बल्कि समाज को संचालित करने वाली व्यवस्था के रूप में सक्रिय है। मैं आशीष नंदी के वकीलों की तरह कहता हूँ कि वे जातिवादी नहीं है, लेकिन मैं उनके भीतर जातीय भावना होने से इंकार नहीं कर सकता। इसीलिए आशीष नंदी को जातिवादी नहीं कहें, लेकिन उनकी टिप्पणी जातीय भावनाओं से प्रेरित है। आखिर आशीष नंदी को भ्रष्टाचार में जाति और वह भी केवल पिछड़ी, अछूत और आदिवासी जातियाँ ही क्यों दिखीं? दूसरी तरह से यह भी सोचा जा सकता है कि यदि आशीष नंदी का पालन-पोषण और परिवेश भिन्न होता तो क्या वे इस तरह से भ्रष्टाचार को देख सकते?

दिक्कत यह हो जाती है कि अकादमिक क्षेत्र में भी संसदीय राजनीति की तरह ही आरोप और साफ-सफाई दी जाती है। अकादमिक क्षेत्र अपने विषय की परत दर परत को खंगालने की कोशिश करने का नाम है। वरना वह दूसरे किस बात के लिए अकादमिक होने का दर्जा प्राप्त कर सकता है। आशीष नंदी एक समाजशास्त्री हो सकते हैं, लेकिन वह भारतीय समाज में जन्मे, पले-बढ़े और शैक्षणिक क्षेत्र में सक्रिय व्यक्ति हैं। व्यक्ति के जातिवादी होने और जातीय भावना के बीच एक फर्क करना जरूरी लगता है। मैं ये बात इसीलिए कह रहा हूँ कि बहुत सारे लोगों के बारे में ऐसे ही बात की जाती है। दिल्ली विश्वविद्यालय के एक कॉलेज में एक नाटक के दौरान नाटक के शुरुआती दृश्यों को देखकर आगे की पंक्ति में खड़े दर्शक बहुत खुश थे। उसमें ये बताया गया था कि कैसे आरक्षण की वजह से शिक्षा का हाल बुरा हो रहा है। लेकिन नाटक के आगे बढ़ने के साथ-साथ उनकी खुशी एक खामोशी में तब्दील होती चली गयी और आखिरकार उनके पास खामोशी के अलावा कुछ नहीं था। नाटक में ये दिखाया गया कि एक सवर्ण को एक दिन के लिए दलित बना दिया गया। उस एक दिन में ही उसे अपने जीवन से ऊब होने लगी।

पहले के दृश्यों में दर्शकों की खुशी का विश्लेषण करते हुए एक शिक्षक ने कहा कि दरअसल खुश होने वाले दर्शक जातिवादी नहीं है। चूँकि उन्हें ऐसा ही बताया गया और अब वे उसी तरह से अपने शिक्षण संस्थानों को देखने लगे हैं कि विशेष अवसर की व्यवस्था के तहत समाज के उपेक्षित वर्गों से आने वाले लोगों की वजह से ही शिक्षा का हाल बुरा हो रहा है। दर्शक जातिवादी नहीं हैं, यहाँ भी यह मान लिया जाय। तब क्या यह कहा जाय कि उनकी शुरुआती प्रतिक्रिया जातीय भावना से प्रेरित थी। दूसरा ये भी यदि कहने की कोशिश की जा रही है कि यह उनके भीतर की अपनी प्रतिक्रिया नहीं थी, बल्कि उनके भीतर इस तरह की ही प्रतिक्रिया की जगह बनायी गयी है, तो वह किसने बनायी है? इस तरह से प्रतिक्रिया व्यक्त करने की भाषा उन्हें कहाँ से मिली और वे ढोने की बजाय उसे समझने की कोशिश करने के लिए क्यों नहीं प्रेरित होते हैं। आखिर उनकी शिक्षा व्यवस्था में ही जातीय भावना को समझने की प्रेरणा कहीं से क्यों नहीं मिल पाती है। बल्कि उसे मजबूत करने के लिए उसे ढोते रहने का प्रोत्साहन कैसे मिलता रहता हैं। यदि यह कहा जाय कि व्यवस्था में कोई जातिवादी तो नहीं है, लेकिन जातीय भावना वहाँ सक्रिय है, ये स्वीकार करने में गुरेज नहीं किया जाता चाहिए।

दरअसल भारतीय समाज में जातिवाद को लेकर विमर्श के कुछ रटे-रटाये सूत्र हैं। उनकी समस्या यह है कि जातिवाद का विरोध करते हुए वे उसे मजबूत करते हैं। वैसे ही, जैसे अमरीका लोकतंत्र की बात करते-करते पूरी दुनिया में अपना साम्राज्य खड़ा करता है। मूल बात यह होती है कि जातिवाद का विरोध करने का पाठ कैसे तैयार किया गया है और उसे पढ़ाने वाला कौन है और उस पाठ को किस तरह से पढ़ा रहा या रही है। अकादमिक स्तर पर तो जातिवाद के विमर्श की भाषा ही तैयार नहीं की जा सकी है। भारतीय समाज में जाति और जातिवाद को खत्म करने का कोई नियम नही हैं। केवल विमर्श है और ऐसा विमर्श कि वहाँ केवल विमर्श में ही दिलचस्पी है।

भारतीय समाज और व्यक्ति की पूरी संरचना में जटिलताएँ बेहद गहरी हैं। व्यक्ति पश्चिम के बरक्स पिछड़े हुए समाज में रहता है, उसका एहसास भी उसे है और पिछड़ेपन के कारणों से उसका मोह भी है, क्योंकि उन कारणों को ही वह अपनी पहचान मानता है। कल्पना करें कि कैसी जटिल मानसिकता बुनी गयी है। हिन्दी साहित्य के इतिहासकार रामचन्द्र शुक्ल के बारे में कहा जाता है कि वे कमीज पहनते थे, गले में टाई बाँधते थे और धोती पहनते थे। बहुत सारे ऐसे लोग हो सकते हैं। एक सोच, समझ और भाषा ऐसी ही बनी है कि प्रगतिशील और आधुनिक दिखने वाला सामंती भाषा में बात व्यवहार करता है, खुद को सामान्य महसूस कर सकता है और समाज में भी उसे सामान्य माना जा सकता है। समाज और व्यक्ति के निर्माण में विविधताओं से भरी जटिलताएँ हैं।

हमने पिछले सौ एक सालों में ये महसूस किया है कि आधुनिक बनने और प्रगतिशील दिखने का समाज पर एक दबाव बना है। शायद अंग्रेजों के आने के बाद और उनके शासन के खिलाफ संघर्षों ने दो स्तर पर भारतीय समाज और उसके सदस्यों को गढ़ा है। आधुनिक और प्रगतिशील भी दिखना है और उसके दिखने के अनेक रूप हो सकते हैं। यानी आधुनिक दिखने का दबाव और आधुनिकता से बचाव के बीच ही समाज का नेतृत्व करने वाले लोगों के निर्माण का सूत्र रहा है। आधुनिकता का अर्थ बराबर विचारों से होता है। कोई भी अपने पहनावे और मशीन चलाने का प्रशिक्षण प्राप्त कर लेने के बाद आधुनिक दिख सकता है, लेकिन समाज के सदस्य का आधुनिक होना विचारों के स्तर पर उसकी आधुनिकता से जुड़ा है। आधुनिकता का सम्बंध विचार से ही होता है। हम यह महसूस कर सकते हैं कि इस समाज में प्रगतिशील, आधुनिक दिखने के कई तौर-तरीके अपनाए गये हैं। यहाँ तक कि विचारों को भी ओढ़ा गया है। जब पूरी दुनिया में साम्यवादी आंदोलन का उभार हो रहा था, तब उसके प्रभाव में दिखने को प्रगतिशीलता का सूचक माना जाता था। भारतीय समाज का एक बड़ा हिस्सा साम्यवादी दिखने लगा। प्रगतिशीलता आज-कल दलितवाद और आम्बेडकरवाद में दिखती है, तो बड़ी संख्या में आम्बेडकरवादी और दलितवादी दिखायी दे सकते हैं। यानी भारतीय समाज में प्रगतिशीलता और आधुनिकता के आंदोलन प्रगतिशील और आधुनिक दिखने के अवसर के रूप में इस्तेमाल किये जाते रहे हैं। इसका मतलब यह होता है कि अवसरवादी जमात ऐसे विमर्शों को अंजाम देती आ रही है जो मूलतः प्रगतिशील और आधुनिक नहीं है।

इस पूरी बातचीत की एक नयी परत अब इस रूप में खुलती है कि क्या मानसिक बुनाई और उसकी सक्रियता और अवसरों के दबाव में किये जाने वाले कार्य की एक स्थिति यहाँ देखी जाती है? क्या एक तरह का खंडित व्यक्तित्व हमारे समाज का संचालन और नेतृत्व कर रहा है? हमने कई उदाहरण देखें हैं जिनमें एक की चर्चा यहाँ की जा सकती है। काका कालेलकर

को समाजिक स्तर पर पिछड़े वर्गों के लिए आरक्षण के लिए अपना अध्ययन व सिफारिशें देनी थी। लेकिन उन्होंने पूरे देश में घूमने के बाद सिफारिशें करने से मना कर दिया। बेहद मशहूर साम्यवादी भोगेन्द्र झा मंडल आयोग की अनुंशसाओं का विरोध करने लगे थे। दरअसल दो तरह की स्थितियाँ देखी जाती हैं। एक तो अवसर देने की माँग और दूसरा अवसर देने के मौके के समय माँग करने वालों की भूमिका। पूरे समाज में यह एक नियम की तरह विद्यमान है कि आधुनिकता के पक्ष में दिखें, लेकिन पिछड़ेपन का साथ दें। आखिर क्यों जिस तरह से कॉलेज के स्तर का विद्यार्थी सोचता है, लगभग वैसी ही सोच बड़ी उम्र में हिलोरें लेने लगती हैं। मनोवैज्ञानिक और शारीरिक विज्ञान के आधार पर यह समझने की कोशिश नहीं की जा रही है। कॉलेज के स्तर पर जातीय भावना कुछ खोने का डर लिए रहती है और बड़ी उम्र में क्या कुछ भी नहीं खोने का डर चेतना को स्वभाविक तरीके से काम करने के लिए छोड़ देता है। बिल्कुल व्यवहारिक स्तर पर जातीय भावनाओं के प्रगट होने का अध्ययन किया जा सकता है। दरअसल जातिवाद सिद्धांत से ज्यादा व्यवहार के रूप में दिखता है। व्यवहार उस सिद्धांत को बनाये रखने की हरचंद कोशिश करता है। जातिवादी नहीं दिखने की कोशिश में सफलता हासिल की जा सकती है, लेकिन जातीय भावना इस कदर गुंथी हुई है कि थोड़ा सा भी असंतुलन उसके प्रगट होने से नहीं रोक सकता। जातिवादी नहीं दिखना मैनेजमेंट की योग्यता हो सकती है, लेकिन जातीय भावना अपने रोज-ब-रोज के जीवन से ही दूर करनी होती है। जिस तरह से रोज-ब-रोज के जीवन और दिनचर्या में जातीय भावना होती है उसे उसी अनुपात में तोड़ने की कोशिश करनी होती है। खाने-पीने, उठने-बैठने, सब जगह पर जहाँ आसपास किसी जाति की उपस्थिति पर हमारे बीच क्या भाव हिलोरें लेने लगते हैं, इसकी पड़ताल करें। आशीष नंदी अपने अकादमिक कार्यों के भीतर जातिवादी नहीं हो सकते हैं, लेकिन वे जातीय भावनाओं को मारने में कामयाब नहीं हो सके हैं, बल्कि जातीय भावना के ढाँचे में ही रचे-बसे रहे हैं। यह उनकी टिप्पणी का एक मात्र सत्य है।

**(अनिल चमडिया मीडिया शोध पत्रिका *जन मीडिया* (हिन्दी) और *मास मीडिया* (अंग्रेजी) के संपादक हैं।)**

❑

## प्रश्न :– साम्प्रदायिक किसे कहते हैं?

**उत्तर :–** जो भी व्यक्ति या संगठन अपने धर्म और सम्प्रदाय के विचारों को दूसरे धर्म और सम्प्रदाय के विचारों से बेहतर मानता है और दूसरे धर्म और सम्प्रदाय के विचारों को अपने से बदतर मानता है, वह साम्प्रदायिक कहलाता है। वह नारी-जाति को जबरदस्ती गुलाम बनाये रखने का दुराग्रह करता है। वह तार्किक चिन्तन और वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विरोध करता है। वह श्रेष्ठताबोध के भ्रम से ग्रस्त हो कर अपनी इस छुद्रतावादी अहंकारी सोच के चलते अपने विचारों को दूसरों पर जबरदस्ती थोपने के लिये दूसरे सम्प्रदाय का उपहास, अपमान और उत्पीड़न करता है। वह गरीबी, महँगाई, बेरोजगारी, भ्रष्टाचार आदि समाज की सारी समस्याओं के लिये केवल अपने विरोधी सम्प्रदाय को ही जिम्मेदार बताता है। इस तरह सभी सामाजिक समस्याओं के असली कारण - शोषक वर्गों द्वारा आम आदमी के वर्गीय शोषण को छिपाने के लिये वह धूर्तता के साथ धुएँ की दीवार खड़ी करने की साजिश करता है। इस कुत्सा-प्रचार के चलते एक दूसरे के खिलाफ नफरत के गुस्से से लोगों को अन्धा बनाने वाली धार्मिक आस्थाओं के बीच मतभेद की यह तनातनी जब हद से बढ़ जाती है, तो साम्प्रदायिकता संगठन साम्प्रदायिक दंगे करा के समाज में अपने आतंक के जरिये खौफ का माहौल पैदा करता है और फिर इन दंगों में बेगुनाह मासूम लोगों का वध करके प्रसन्न होता है। समाज में साम्प्रदायिक जहर फैला कर शासक पूँजीपति वर्ग जनता के बीच के मनोमालिन्य की दरार को और चौड़ा करता है, जनता के बीच के सौजन्य और सौहार्द्र के माहौल को बिगाड़ डालता है और फिर शोषण की चक्की को और तेज घुमाता चला जाता है। ऐसे में फासीवाद का दौर आता है। जब शासक वर्ग द्वारा सभी जनतांत्रिक मूल्यों को कुचल कर केवल नंगी गुण्डई के सहारे जोर-जबरदस्ती की हुकूमत कायम की जाती है। फासीवाद के दौर में राजनीतिक दलों, धार्मिक संगठनों, पेशेवर गुण्डों, अपराधियों, माफिया और पुलिस व फौज के दम पर शोषण, उत्पीड़न, दमन और अन्याय का विरोध करने का साहस करने वाले हर स्वर को बेरहमी से कुचल दिया जाता है। अदालतों में न्याय के नाम पर केवल अन्याय होने लगता है। फासीवाद अक्सर अल्पसंख्यक सम्प्रदाय के प्रति बहुसंख्यक सम्प्रदाय की नफरत को अपना औजार बनाता है। केवल वैज्ञानिक दृष्टिकोण और क्रान्तिकारी विचारों से नयी पीढ़ी को लैस करके ही साम्प्रदायिकता के जहर से समाज को बचाया जा सकता है।

**-गिरिजेश तिवारी**

# दलित उत्पीड़न का अन्तहीन सिलसिला

**–कँवर पाल**

दलित उत्पीड़न का पर्याय बन चुका हरियाणा एक और शर्मनाक घटना के लिए चर्चा में है। 13 अप्रैल 2013 को कैथल जिले के पबनावा गाँव में एक दलित युवक द्वारा उच्च जाति की एक युवती से प्रेम विवाह करने को लेकर उच्च जाति के दबंगों ने हथियारों से लैस होकर पुलिस की मौजूदगी में दलितों की बस्ती पर हमला बोल दिया। गाँव के दबंगों का आतंक इतना अधिक है कि पुलिस सुरक्षा के बावजूद पबनावा के 200 से ज्यादा दलित परिवार गाँव से पलायन कर चुके हैं। पूरे गाँव को पुलिस छावनी में बदल दिया गया है।

पिछले दिनों अन्तर्जातीय विवाह करने वाले युवक-युवतियों पर तरह-तरह से हमले किये गये और जातिगत द्वेष को गहरा करने की तमाम कोशिशें की गयीं। अन्तर्जातीय विवाह का समर्थन करते हुए सर्वोच्च न्यायालय ने "ऐसे विवाह करने वाले जोड़ों को पुलिस सुरक्षा देने" का आदेश दिया था। मगर वही ढाक के तीन-पात। अधिकांश मामलों में पुलिस की मानसिकता भी जातिगत भवनाओं को ही उजागर करती है। इसका ताजा उदाहरण अलीगढ़ में देखने को मिला। 18 अप्रैल की सुबह नवरात्र की अष्टमी के दिन जहाँ कन्याओं को पूजने की तैयारी हो रही थी, वहीं एक दलित कन्या दरिंदगी का शिकार बनायी गयी। इस घटना का विरोध करने वाले लोगों पर पुलिस ने लाठियाँ चलायी। यहाँ तक कि विरोध कर रही महिलाओं, बच्चों और पीड़ित बच्ची के माँ-बाप को भी पुलिस ने लाठियों से पीटा। इस घटना में पुलिस का गरीबों के प्रति और खासतौर पर दलितों के प्रति जातिगत घृणा का भाव स्पष्ट होता है। दमन-उत्पीड़िन का विरोध करने वाली स्त्रियों के साथ सबसे ज्यादा क्रूरता बरती जाती है। बदला लेने और मानमर्दन करने के लिये अक्सर उनके साथ बलात्कार किया जाता है। स्त्रियों के शारीरिक और यौन उत्पीड़न के पीछे सर्वण और पुरुष अहंकार के प्रदर्शन की बड़ी भूमिका होती है।

दलितों पर अत्याचारों का सिलसिला सदियों से जारी है। कुछ परिवर्तन जरूर हुए हैं, खासकर आजादी के बाद आरक्षण के चलते दलितों के एक छोटे से हिस्से की आर्थिक स्थिति बेहतर हुई है और उनमें जागृति की लहर आयी है। जगह-जगह पर शोषण उत्पीड़न के खिलाफ प्रतिरोध होना शुरू हुआ है, लेकिन जब भी दलितों ने अपने न्यायपूर्ण अधिकारों के लिए आवाज उठायी, उनका बर्बर दमन किया गया। दलितों को जिन्दा जलाये जाने की कई घटनाएँ सामने आयीं। गाँव के खेत मजदूर दलित जब मजदूरी बढ़ाने की माँग करते हैं, अपने अधिकारों के लिए संगठित होते हैं, यहाँ तक कि किसी सवर्ण के घर के आगे से मोटर साईकिल पर सवार होकर गुजरते हैं या बढ़िया मकान बना लेते हैं तो गाँव की दबंग जातियों के लोग आग-बबूला हो जाते हैं। इन छोटी जाति वालों की यह मजाल कि हमारे सामने सर उठाएँ और वे दलितों को सबक सिखाने पर उतारू हो जाते हैं। बहाना कुछ भी हो, नतीजा पूरे 'दक्खिन टोले' को भुगतना पड़ता है। दलित उत्पीड़न के मामलों में देशभर की स्थिति लगभग एक जैसी है।

"प्रोटैक्शन ऑफ सिविल राइट्स एक्ट -1955" की सीमाओं को देखते हुए एक विशेष कानून (अनुसूचित जाति/अनुसूचित जनजाति अत्याचार निवारण अधिनियम 1989) बनाया गया था। इनमें से ज्यादा प्रावधान इतने सख्त हैं कि एक बार गिरफ्तारी होने पर आसानी से जमानत भी नहीं हो पाती। लेकिन विडम्बना यह है कि इस कानून की मूल भावना के अनुरूप कभी इस पर अमल ही नहीं होने दिया गया। यहाँ तक कि दलित की बेटी और दलितों की वोट ले कर सत्ता तक पहुँचने वाली उत्तर प्रदेश की पूर्व मुख्यमंत्री ने दलितों के 'हित' में सबसे पहला काम यही किया कि उत्तर प्रदेश में इस कानून को निस्प्रभावी बनाने का प्रयास किया।

अगर अनुसूचित जाति/अनुसूचित जनजाति आयोग की वर्गीकृत रिपोर्ट 2004-05 को देखें, तो स्पष्ट होता है कि जातिवाद का जहर गाँवों में ही नहीं, शहरी इलाकों में भी घुसा हुआ है। आँकड़े बताते हैं कि हर सप्ताह औसतन 11 दलितों की हत्या कर दी जाती है, जबकि 21 दलित महिलाऐं बलात्कार का शिकार होती हैं। अनुसूचित जाति के महज 30 प्रतिशत घरों में बिजली का कनेक्शन है और महज 9 प्रतिशत घरों में साफ-सफाई की व्यवस्था है। आधे से ज्यादा दलित परिवारों के बच्चे आठवीं कक्षा से पहले ही पढ़ाई छोड़ देते हैं। अनुसूचित जाति के छात्रावासें में रहने वाले बच्चे भी नहीं जानते कि दूध का स्वाद कैसा होता है। अनुसूचिति जाति की 40 प्रतिशत आबादी खेत मजदूरी में करती है और उनमें से लगभग सभी भूमिहीन हैं।

मुल्क की 20 करोड़ से अधिक आबादी की स्थिति आज भी दोयम दर्जे की बनी हुई है। दुनिया के सबसे बड़े जनतंत्र के चेहरे पर इससे बड़ी कालिख भला और क्या हो सकती है?

संविधान सभा की आखिरी बैठक में डॉ. अम्बेडकर ने ऐसी ही स्थिति की भविष्यवाणी की थी। उन्होंने कहा था कि "हम लोग अंतर्विरोधी दुनिया में प्रवेश कर रहे हैं। राजनीति में हम एक व्यक्ति-एक वोट को स्वीकार करेंगे, लेकिन हमारे सामाजिक-राजनीतिक जीवन में मौजूदा सामाजिक आर्थिक ढाँचे के चलते हम लोग इस सिद्धान्त को हमेशा खारिज करेंगे। कितने दिनों तक हम अंतर्विरोधों का यह जीवन जी सकते हैं? कितने दिनों तक हम सामाजिक-आर्थिक जीवन में बराबरी से इन्कार करते रहेंगे?" हर इन्साफ पसन्द आदमी के सामने यह सवाल आज भी जवाब के इन्तजार में खड़ा है। ❑

# हमारे काम के नहीं, तो गाँव में क्यों रहें?

**-हिमांशु कुमार**

कल दिल्ली की कुछ मानवाधिकार एवं दलित अधिकारों की संस्थाओं के प्रतिनिधियों के साथ मैं भी हरियाणा के कैथल जिले के पबनावा गाँव में गया था। इस गाँव में रहने वाले दलित परिवारों के तीन सौ घरों में तोड़-फोड़ और लूट पाट की गयी थी। बस्ती की युवा महिलायें और बच्चे अभी भी बस्ती में वापिस नहीं लौटे हैं ।

यह एक भयानक दृश्य था। घरों के टूटे हुए दरवाजे, बिखरा हुआ सामान, बिलखती हुई बूढ़ी औरतें देख कर मन में जिस तरह के खयाल आ सकते हैं मैं उन्हीं भावों से भरा हुआ था।

एक दलित लड़के और एक बड़ी जाति की लड़की ने प्रेम विवाह कर लिया। इस बात पर इन छोटी जाति के लोगों की पूरी बस्ती पर बड़ी जाति के लोगों ने इकट्ठा होकर हमला किया और पुरी बस्ती को नुकसान पहुँचाया।

इसे पढ़ते हुए आपके दिमाग में अगर यह चित्र उभर रहे हैं कि यह सब किसी पिछड़े हुए इलाके के सामंती समाज में हो रहा है तो आप गलती पर हैं।

जिन्होंने हमला किया वो सब पढ़े लिखे लोग हैं, शिक्षक हैं, इंजीनियर हैं, सरकारी अफसर हैं, उनके पास कार हैं, मोटरसाइकिल हैं, वे टीवी देखते हैं, फेसबुक पर हैं।

जिन पर हमला हुआ उन दलितों के पास भी अब कम्प्यूटर आ रहा था। मैंने टूटा हुआ कम्प्युटर देखा। टीवी भी आ गये थे, टूटे हुए टीवी भी देखे, मोटर साइकिल भी थी, तोड़ डाली गयी मोटर साइकिल भी देखी।

मुझे यह स्वीकार करने में मुश्किल हो रही है कि दलितों की बस्ती इसलिये जला दी गयी कि छोटी जाति के एक लड़के ने बड़ी जाति की लड़की से शादी कर ली।

ऐसा सम्भव ही नहीं है कि दोनों जातियाँ वर्षों से प्रेम से रहती हों और अचानक एक घटना से पूरा समुदाय जाकर मित्र समुदाय की एक बस्ती को जला दे।

ये नफरत वर्षों की इकट्ठा हो रही होगी, इस नफरत का क्या कारण रहा होगा?

असल में दलितों के पास जमीन नहीं है। क्यों नहीं है यह मुझे तो पता है पर आप भी सोचिये कि देश भर में दलित ही क्यों बेजमीन हैं?

ये दलित लोग वर्षों से बड़ी जाति के लोगों के खेतों में मजदूरी करते थे। मजदूरी बहुत कम मिलती थी। लेकिन अब हालत बदलने लगी थी। अब दलित भी पढ़ने लिखने लगे, अब दलित भी दूसरे काम-धंधे करने लगे, अब दलित भी बड़ी जाति के लोगों की तरह कम्प्यूटर चलाने लगे, अब दलित भी मोटर साइकिलों पर घूमने लगे। और अब दलितों ने कम मजदूरी पर बड़ी जाति के लोगों के खेतों में काम करना बंद कर दिया।

बस यही गड़बड़ हो गयी।

इन छोटी जाति वालों की ये मजाल? कि वे खेत में काम करने के लिये बड़ी जाति वालों के बुलाने पर आने से मना कर दें। दलितों की ये मजाल कि वो मजदूरी के रेट पर जुबान लड़ाएँ।

नहीं ये बर्दाश्त नहीं किया जा सकता था। इन्हें सबक सिखाना ही था। गुस्सा अंदर-अंदर था।

जैसे ही इस गुस्से को चिंगारी मिली। पूरे समुदाय ने तय किया कि इन चमारों को इनकी औकात बतानी ही पड़ेगी। बड़ी जाति के पाँच सौ से ज्यादा लोगों ने पिस्तौल, तलवार, गंडासे लेकर दलितों को सबक सिखाना शुरू कर दिया। दुकाने लूट ली गयीं, घर लूट लिये गये। अनाज बिखेर दिया गया। पानी की टंकियाँ फोड़ दी गयीं। मारपीट की गयी।

कल इस उजड़ी हुई बस्ती में घूमते हुए मैं तलाश कर रहा था कि यहाँ एक देश के समान नागरिक होने के भाव का एक कतरा भी कहीं मौजूद हो तो कुछ राहत मिले। पर पूरे माहौल में बस नफरत और डर ही फैला महसूस हो रहा था।

देश की एक बस्ती के लोग अपने पास की दूसरी बस्ती के लोगों को इंसान मानने के लिये तैयार नहीं हैं। वे उन्हें मिटा देने पर आमादा हैं। हमारी बात कुछ सवर्ण पुरुषों से भी हुई उन्होंने कहा कि हमें तो इन लोगों की जरूरत ही नहीं है। ये लोग हमारे खेतों में काम करते ही नहीं हैं।

वह कह रहा था कि अब इन लोगों की जरूरत ही नहीं है तो हम इन्हें यहाँ क्यों रहने दें? जैसे कि इन दलितों का होना सिर्फ तभी तक बर्दाश्त किया जा सकता है जब तक वे, बड़ी जातियों के किसी काम के हों। वर्ना हम उन्हें यहाँ रहने ही नहीं देंगे।

भयानक सोच है। आप एक पूरी दलित बस्ती को मिटा देने का इरादा रखते हैं? क्योंकि अब ये लोग आपके काम के नहीं रहे? और आप ये बात सन् 2013 में कह रहे हैं?

मै कल्पना कर सकता हूँ कि सदियों से क्या-क्या बर्दाश्त करना पड़ा होगा इन तथाकथित छोटी जाति वालों को? क्या-क्या शर्तें माननी पड़ी होंगी सिर्फ इसलिये कि बड़ी जाति के लोग उन्हें बस जिंदा रहने दें।

कल रात को इस बस्ती से दिल्ली वापिस लौटते समय मुझे भारतीय संस्कृति, धर्म, संविधान जैसे शब्द मूँह चिढ़ा रहे थे। और मेरी आँखों के सामने अस्सी साल की बुजुर्ग महिला की तस्वीर थी जो अपनी कमीज उघाड़ कर अपने सीने पर मारी गयी लात की चोट दिखा रही थी। ❑

# 'जाति विरोधी साहित्य ही दलित साहित्य है'

**(*डॉ. तुलसीराम* उन चुनिंदा दलित चिंतकों में से हैं जो दलित साहित्य से लेकर उनके सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक मसलों पर सुलझी हुई राय रखते हैं। इन तमाम मसलों पर उनकी *पूजा सिंह* से बातचीत।)**

**'मुर्दहिया' पिछले सालों में आयी सबसे चर्चित आत्मकथाओं में से है। दलित साहित्य की मुख्य पहचान आत्मकथाओं से ही है। आप सामान्य साहित्य और दलित साहित्य में क्या अंतर देखते हैं?**

दलित साहित्य जाति व्यवस्था विरोधी साहित्य है। साधारण तौर पर जो साहित्य माना जाता है जिसमें ज्यादातर सवर्ण लेखक हैं, यह उससे भिन्न है क्योंकि अन्य लेखक चाहे जितने भी बड़े हों जाति व्यवस्था के खिलाफ कभी आवाज नहीं उठाते थे। जातीय भेदभाव, जातीय व्यवस्था के खिलाफ, जातीय शोषण के खिलाफ एक संगठित रूप में दलित साहित्य सामने आया। तकनीकी रूप से इसकी शुरुआत महाराष्ट्र से हुई 60 के दशक में। कहने को तो दलित कविता, कहानी और उपन्यास भी लिख रहे हैं लेकिन जैसे ही दया पवार की आत्मकथा बलूत आयी, समूचे साहित्य जगत में तहलका-सा मच गया। वह आधुनिक दलित साहित्य की पहली आत्मकथा है। फिर एक-एक करके तमाम दलित आत्मकथाएँ लिखी गईं। हिंदी क्षेत्र में भारत में दलित साहित्य थोड़ा पीछे है। जहाँ तक मेरी आत्मकथा 'मुर्दहिया' का सवाल है तो वह शमशान घाट वाला एक ऐसा चौराहा था जहाँ से गुजरे बिना कहीं नहीं जाया जा सकता था। प्रतीकात्मक रूप में मैंने माना कि मुर्दहिया हमारी जिंदगी है। मेरी आत्मकथा अलग है क्योंकि अधिकांश दलित आत्मकथाएँ बहुत क्रोध में लिखी गयी हैं।

**आप लंबे समय से जेएनयू के अंतरराष्ट्रीय अध्ययन केंद्र में हैं। क्या दुनिया के अन्य देशों में भी दलितों या अस्पृश्यों का यही हाल है?**

जैसे हमारे यहाँ अस्पृश्यता है उसी तरह अफ्रीका से लेकर यूरोप व अमेरिका तक लोगों से रंग के कारण बुरा बर्ताव किया जाता रहा है। रंगभेद के दौर में अश्वेत लोगों के लिए चलने के लिए अलग पटरी, अलग दुकानें और यहाँ तक कि ट्रेन में अलग डिब्बे हुआ करते थे। उन्हें स्कूलों में एडमिशन नहीं मिल पाता था। उनके लिए अलग स्कूल थे। यहाँ तक कानून भी अलग-अलग थे। हमारे यहाँ यही दलितों के साथ होता रहा। कुआँ नहीं छूना, सवर्णों के मोहल्ले से नहीं गुजरने देना, यह वही है। यह भेदभाव मीडिया में भी है। दिल्ली में गत वर्ष 16 दिसंबर को हुई सामूहिक बलात्कार की जघन्य घटना को अंतरराष्ट्रीय स्तर का मसला बना दिया गया। हरियाणा में ऐसे अपराध रोज होते हैं। दलित बच्चियों को बलात्कार के बाद जलाकर मार दिया जाता है। मीडिया के लिए यह एक कॉलम की खबर है।

**मुर्दहिया को मशहूर समाज विज्ञानी बद्री नारायण ने वंचित वर्ग का सबअल्टर्न इतिहास कहा, लेकिन एक अन्य दलित विद्वान डॉ. धर्मवीर ने कहा है कि इस किताब में दलितों को लेकर प्रतिबद्धता नहीं है।**

धर्मवीर की तो बात ही अलग है। वे स्त्री विरोधी व्यक्ति हैं, मेरी माँ के खिलाफ उन्होंने ऐसी काल्पनिक बात कही जो किसी भी सभ्य समाज में स्वीकार्य नहीं है। देखिए, सवाल प्रतिबद्धता की कमी का नहीं बल्कि ईर्ष्या का है। मेरी आत्मकथा के आते ही तमाम दलित आत्मकथाओं की पूछ कम हो गयी। तो ये सारी बातें उसी क्रोध से उपजी हैं।

**कुछ लेखकों का मानना रहा है कि दलित ही दलित लेखन कर सकता है, क्या आप इस तर्क से सहमत हैं कि सहानुभूति कभी स्वानुभूति का स्थान नहीं ले सकती?**

अगर कोई सवर्ण जाति व्यवस्था के खिलाफ लिखता है तो इसे क्यों नहीं दलित साहित्य माना जाय? करीब ढाई हजार साल पहले बुद्ध ने जाति व्यवस्था के खिलाफ आंदोलन छेड़ा। उनके अनुयायियों में सभी प्रमुख लोग सवर्ण थे। लेकिन उन्होंने कभी दलितों व अन्य में भेदभाव नहीं किया। जाति से लड़ने के कारण ही ब्राह्मणों ने बौद्ध भिक्षुओं का कत्लेआम कराया। बौद्ध धर्म को भारत से बेदखल कर दिया गया। इस तरह का अत्याचार उन बौद्धों को सहना पड़ा जो मूलतः सवर्ण थे। ऐसे मे कोई लेखक जब कहता है कि केवल दलित ही दलित साहित्य रच सकता है तो यह सही नहीं है। जो भी जाति व्यवस्था के विरोध में लिखता है वह दलित साहित्य रचता है।

**कहा जाता है कि हिंदी में दलित साहित्य का आगमन मराठी में आयी दलित आत्मकथाओं के जरिए हुआ।**

यह सच है। इसे मानने में कोई हर्ज नहीं है। इसकी शुरुआत दया पवार की आत्मकथा से हुई। दलित साहित्यकार सूरजपाल सिंह चौहान कहते हैं कि कब तक हमें राहुल सांकृत्यायन या मराठी दलित

साहित्य की कलम से पीटा जाएगा। ऐसे तो वे दलितों के लिखे को भी नकार रहे हैं। यह उग्रवादी विचारधारा है और उग्रवाद का जीवन बहुत छोटा होता है। नक्सलवादियों को ही देख लीजिए। आज वे कम से कम डेढ़ सौ समूहों में बँट गये हैं और एक-दूसरे के दुश्मन बन रहे हैं।

**डॉ. बी आर अम्बेडकर दलित शब्द के खिलाफ थे। उनकी नजर में इसकी जातीय पहचान नहीं थी। वे हर वर्ग के शोषित को दलित मानते थे?**

जी हाँ, अम्बेडकर डिप्रेस्ड क्लास शब्द का इस्तेमाल करते थे। उनकी सोच बहुत व्यापक थी। 1951 में वे हिंदू कोड बिल लाये थे जो पास नहीं हो सका। इसके जरिए महिलाओं को पिता की धन सम्पत्ति में अधिकार और बराबरी की शिक्षा दिलाने की बात थी। संसद में उन्होंने कहा था, 'जो योगदान मैं संविधान के जरिए नहीं दे पाया हूँ, उसे हिंदू कोड बिल के जरिए देना चाहता हूँ।' लेकिन इसे नकार दिया गया। आंबेडकर ने नेहरू मंत्रिमंडल से इस्तीफा दे दिया। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि हिंदू कोड बिल मुख्यतः सवर्ण महिलाओं के लिए था। तो सवर्ण महिलाओं के लिए उन्होंने मंत्रिमंडल से इस्तीफा दिया, लेकिन कोई इतिहासकार इस बारे में नहीं लिखता। उनको संकुचित ढंग से केवल दलितों का हितैषी साबित करने की कोशिश की गयी।

**क्या आज के दलित अम्बेडकर की दिखायी राह से विचलित हो चले हैं?**

हाँ, उनका एक हिस्सा विचलित हो चुका है। मायावती और उनके अनुयायी इसी में आते हैं। उन्होंने जितनी मूर्तियाँ बनवायी हैं उतने स्कूल खोल देतीं तो दलितों को कितना फायदा होता। कुछ लोग दलित साहित्य को अम्बेडकर साहित्य का नाम दे रहे हैं। यह भी गलत है। एक व्यक्ति को आधार मानकर साहित्य नहीं रचा जा सकता। यह व्यक्ति पूजा एक नए किस्म के अंधविश्वास की ओर ले जायेगी। यह साहित्य रच रहे समूचे दलित समाज को नकारने की बात है।

**क्या आज दलित एक नयी तरह की जातीय पहचान के साथ कट्टर हो रहा है?**

यह मायावती की देन है। सन 1984 में जब बहुजन समाज पार्टी बनी तो कांशीराम ने नारा दिया कि अपनी-अपनी जातियों को मजबूत करो। ऐसे में तब दलित समुदाय काफी हद तक उनके साथ हो गये। सबसे खतरनाक बात यह हो गयी कि कांशीराम और मायावती ने हर जाति का अलग सम्मेलन बुलाकर जातीय भावना को भड़काया। मायावती अपनी बैठकों में कहती रही हैं कि ब्राह्मण हाशिये पर चले गये हैं अब उनके सशक्तीकरण के लिए मैं उन्हें मजबूत बनाऊँगी। तो जाति व्यवस्था के निर्धारक ब्राह्मणों को वह हाशिये पर गया हुआ बताती हैं। ब्राह्मण कितना भी हाशिये पर चला जाए लेकिन ईश्वर उसका सबसे बड़ा हथियार है। एक गरीब ब्राह्मण एक दोने में कुछ फूल लेकर घूमता है और हजारों रुपये कमा लेता है. यह ईश्वर की सत्ता है। देश में अब पार्टियों की नहीं जातियों की सत्ता है। फिर चाहे वह उत्तर प्रदेश हो, बिहार हो या दक्षिण भारत।

**पिछले साल के अंत में प्रसिद्ध आलोचक नामवर सिंह ने कहा था कि अगर साहित्य में आरक्षण हुआ तो वह भी राजनीति की तरह गंदा हो जाएगा। उनके इस वक्तव्य को आप किस तरह देखते हैं?**

उनका यह बयान अनुचित है क्योंकि किसी भी दलित साहित्यकार ने साहित्य में आरक्षण की बात नहीं की। यह उनकी अपनी सोच है। यह कहना कि आरक्षण राजनीति को गंदा करता है, गलत है. अगर दलितों को आरक्षण नहीं हो तो पूरे भारत में एक भी नौकरी दलित को नहीं मिलेगी। यह एक कड़वी हकीकत है। 1950 से दलितों और आदिवासियों के लिए 22.5 फीसदी आरक्षण लागू हुआ। समग्रता में कुल 10 फीसदी आरक्षण ही मिला। जो 12.5 फीसदी छूट गया उसमें दलितों की कई लाख नौकरियाँ सवर्णों ने इस आधार पर हथिया लीं कि योग्य पात्र नहीं मिला। बहुत बाद में वीपी सिंह ने यह व्यवस्था की कि अगर योग्य दलित नहीं मिला तो पद रिक्त रखा जाएगा। देश के विश्वविद्यालयों में तीन फीसदी से ज्यादा दलित नहीं हैं। जेएनयू में मैं अकेला हूँ जो असिस्टेंट प्रोफेसर, एसोसिएट प्रोफेसर और प्रोफेसर तीनों पदों पर जनरल कोटे से आया। आरक्षण से तो थोड़ी-बहुत समानता ही आयी है। पर इसके बिना हालात बहुत विकट होते।

**महात्मा गाँधी ने दक्षिण अफ्रीका में रंगभेद को लेकर सबसे पहले आवाज उठायी, लेकिन भारत में वे जाति और वर्ण व्यवस्था के कट्टर हिमायती नजर आते हैं?**

गाँधी से अम्बेडकर की लड़ाई इसी बात पर हुई। यहाँ उनका कहना था कि छुआछूत आदमी की देन है जबकि जाति व्यवस्था ईश्वर की देन है। इसलिए जाति व्यवस्था से छेड़छाड़ नहीं करनी चाहिए। जबकि दलितों की सारी समस्या जाति व्यवस्था की देन है। वह हर जगह गीता लेकर घूमते थे। उसी गीता का 18वाँ अध्याय जाति व्यवस्था का महिमामंडन करता है। वहाँ कृष्ण कहते हैं कि जाति मैंने बनायी है और जो इसका विरोध करेगा वह मेरा विरोध करेगा। मैं उसका संहार करूँगा। इस मामले में गाँधी की भूमिका बहुत नकारात्मक थी।

❑

**(तहलका डॉट कॉम से साभार)**

# कब रुकेंगे महिलाओं और बच्चियों पर लैंगिक हमले

**–अमरपाल**

जिस समय दिल्ली में नवरात्र के मौके पर रात-रात भर देवी का जागरण और कन्या पूजन हो रहा था, उसी समय पूर्वी दिल्ली के गाँधीनगर में पाँच साल की एक बच्ची के साथ जघन्य बलात्कार हुआ।

इस पूरे प्रकरण में पुलिस असंवेदनशील बनी रही। बच्ची की गुमशुदगी की सूचना मिलने के बावजूद पुलिस ने इस मामले को गम्भीरता से नहीं लिया। और जब पड़ोसियों के जरिये हादसे की खबर मिली तो बच्ची के पिता को 2000 रुपये का लालच देकर मामले को रफा-दफा करने की कोशिश की। हद तो यह कि इस घटना पर विरोध प्रदर्शित करती एक छात्रा को पुलिस के एक बड़े अधिकारी ने जोर-जोर से थप्पड़ मारे जिससे उसके कान का पर्दा फट गया और वह लहूलुहान हो गयी।

वाकई यह घटना दिल दहला देने वाली है। पाँच साल की बच्ची के साथ बलात्कार और वह भी अमानुषिकता के उस चरम तक, जिसकी कल्पना करके रौंगटे खड़े हो जायें। रही सही कसर पुलिस की अकर्मण्यता, असंवेदशीलता और क्रूरता ने पूरी कर दी।

दिल्ली की चलती बस में गिरोहबंद बलात्कार और पीड़िता की हौलनाक मौत को अभी कुछ ही महीने बीते थे कि यह दूसरी नृशंस घटना सामने आयी। इस बार भी दिल्ली में काफी जबरदस्त विरोध-प्रदर्शन हुआ। हालाँकि इस बीच कोई ऐसा दिन नहीं गुजरा जब अखबार के पन्ने दिल्ली ही नहीं देशभर में बलात्कार की घटनाओं से भरे न हों। इस बार भी विरोध के दौरान बलात्कारी को कठोरतम सजा देने की वही माँगे और तर्क हैं। 'लोग न्याय की माँग के लिए उठ खड़े हुए हैं', 'पूरी दिल्ली जाग चुकी है' जैसी बयानबाजियाँ होती रहीं। खबरनवीशों की कलम और कैमरे इस घटना से जुड़ी छोटी से छोटी जानकारी पाने को बेताब रहे। चुनाव बाज पार्टियाँ एक-दूसरे पर आरोप-प्रत्यारोप करती रहीं। फतवे जारी किये गये, स्त्रियों के प्रति हिंसा के अनाप-शनाप कारण और समाधान बताये गये। सबसे बड़ी बात यह कि सजा के रूप में एक से बढ़कर एक बर्बर और वहशियाना उपाय सुझाये गये। कहना मुश्किल है कि भावना विवेक पर हावी हो गयी या समाज को पीछे ले जाने वाली ताकतों ने इस जनाक्रोश लाभ उठाया और धूर्ततापूर्वक अपने असली मकसद का प्रचार शुरू किया।

ऐसी किसी भी लोमहर्षक घटना पर लोगों का गुस्से से भर जाना लाजमी है। निश्चित तौर पर बलात्कारियों को कड़ी सजा मिलनी चाहिए। महिला हिंसा के खिलाफ कठोर कानून होना चाहिए। लेकिन पूरे मामले को कानून और सजा तक ही सीमित कर देना इस समस्या को सतही तौर पर देखना है। जाहिर है कि दर्द की गोली से कैंसर का इलाज नहीं होता।

इक्के-दुक्के संगठनों और व्यक्तियों को छोड़कर इस घटना को गम्भीरता से समझने और स्थायी समाधान ढूँढने का प्रयास नहीं दिखायी दिया। बलात्कारियों को फौरन फाँसी की सजा देने और कानून बनाने के शोर में यह मद्धिम स्वर भी दब सा गया। इस पर विचार करना किसी ने मुनासिब नहीं समझा कि आखिर ऐसी घटनाएँ क्यों हो रही हैं और इतने प्रबल विरोध और कठोर कानून के बावजूद लगातार बढ़ती ही जा रही हैं। इसके सामाजिक-आर्थिक आधार क्या हैं? कौन सी विचारधारा इस विषवृक्ष को पल्लवित-पोषित करती है। क्यों मौत की सजा का डर भी बलात्कारियों के मंसूबों को कमजोर नहीं कर पा रहा है और हकीकत तो यह है कि इस घटना के विरोध के समय ही जब एक बार फिर से बलात्कारियों को सरेआम कोड़े लगाने, फाँसी देने, उनका लिंग काटने, चौराहे पर गोली मारने, भीड़ को सौंप देने की माँग की जा रही है, उसी दौरान बच्चियों के साथ बलात्कार के दर्जनभर नये मामले सामने आ चुके हैं। एक बार फिर समस्या को गम्भीरता से समझने की जगह भीड़ की भावनाएँ हावी हैं, जो टीन की तरह गर्म और ठण्डा होती हैं।

किसी भी सभ्य समाज में ऐसी किसी भी परिघटना पर गम्भीर चिन्तन-मनन और बहस-मुबाहिसे का सिलसिला शुरू होना जरूरी होता है। प्रबुद्ध नागरिक उस बहस-मुबाहिसे के निचोड़ को व्यापक जनता के बीच ले जाकर उसे शिक्षित और जागृत करने का प्रयास करते हैं। पूरा समाज एक नयी उथल-पुथल से गुजरता है और इसी क्रम में समस्याओं से निपटने के बहुआयामी उपाय सामने आते हैं। तभी ऐसी समस्याओं का स्थायी हल हो पाता है।

आम तौर पर अपराध और खास तौर से यौन अपराध से निपटने के अब तक दो ही उपायों से हम परिचित हैं - धार्मिक और कानूनी। धार्मिक मॉडल अपराध करने की प्रवृति

को विशुद्ध रूप से उस व्यक्ति के अन्दर देखता है और इसका कारण धर्म से विमुख होना, नैतिक पतन और ईश्वर का भय न होना बताता है। मन की शुद्धता और ईश्वर की भक्ति व भय के लिये भौतिक जगत से वैराग्य धारण करके तसबीह या माला फेरने की सलाह देता है। साथ ही महिलाओं को पर्दे और हिजाब में ढक जाने, घर से बाहर न निकलने और तमाम स्त्री विरोधी नसीहतें देता है। यहाँ बताना जरूरी है कि दुनिया के सभी धर्मों में किसी न किसी रूप में पाप का कारण और सारी बुराइयों की जड़ समझा जाता है। स्त्री समानता की बात किसी भी धर्म में दुर्लभ है।

धार्मिक मठों और मतों को बेपर्द करने का काम तो कई जमाने पहले दास कबीर कर चुके। अपने एक दोहे में उन्होंने कहा है-- माला फेरत जग मुआ गया न मन का फेर।

मनका मना का डारि दे मनका मनका फेर।।

पण्डे-पुरोहितों-मौलवी-पादरियों का खुद ही यौन हिंसा और दुष्कर्मों में लिप्त होने की खबरें आये दिन आती हैं जो धार्मिक मॉडल के नजरिये अपराध या यौन अपराध रोकने के प्रयासों की असफलता की गवाही देते हैं।

कानून बनाकर अपराध खत्म करने की कोशिशों का इतिहास भी युगों पुराना हो चुका है, लेकिन अपराध और खास तौर से यौन अपराध खत्म करने की तो बात ही क्या यह दिनों-दिन बढ़ता ही जा रहे हैं। न केवल अपराधों की संख्या बढ़ रही है बल्कि दिनों दिन अधिक क्रूर और बीभत्स रूप धारण कर रहा है। महिलाओं के प्रति हिंसा रोकने वाले अब तक कितने ही कानून बने लेकिन उनका कोई असर नहीं हुआ। अपराधों पर दण्ड से काबू पाना और खास तौर पर उन अपराधों के लिए कारगर नहीं हो पाता जिनकी जड़ें समाज और संस्कृति में गहराई तक धँसी हो।

भारतीय समाज की मानसिकता गढ़ने में सामंती, पितृसत्तात्मक मूल्य-मान्यताओं की प्रबल भूमिका है जो स्त्री विरोधी और मर्दवादी अहंकार का भरपूर समर्थन करती हैं। आधुनिकता के मूल्य --लोकतंत्र, समानता, धर्मनिरपेक्षता इत्यादि केवल पवित्र किताबों में ही बन्द हैं। ऊपर से पश्चिम से आने वाली संस्कृति भी वह नहीं है जो जनतांत्रिक क्रान्तियों के दौरान उत्पन्न हुए थे और पूरी मानवता को ऊँचे धरातल पर ले गये थे। अब वहाँ से जो कुछ भी आ रहा है उसका बहुत बड़ा हिस्सा पतनशील और प्रतिगामी है। इस तरह सामंती कोढ़ में पतित पूँजीवादी मूल्यों के खाज से जो विकृत मानसिकता पैदा होती है और नाना प्रकार के सामाजिक अपराधों की ओर धकेलती है, उसी की एक अभिव्यक्ति है बलात्कार।

यह सड़ी-गली संस्कृति उसी सामाजिक-आर्थिक ढाँचे पर टिकी हुई है जिससे इस व्यवस्था के संचालकों ने लूट और मुनाफे को बेलगाम छूट देकर देश की विशाल आबादी के लिए साक्षात नरक का निर्माण किया है। यहाँ 77 प्रतिशत फीसदी लोग 20 रुपये रोज पर गुजारा करते हैं, अशिक्षा, अभाव, अपमान और कंगाली की अमानवीय परिस्थितियों में जीते हैं। जिस 'पशु प्रवृति' को नवउदारवादी शासकों ने अर्थव्यवस्था की चालक शक्ति बनाया है वही समान और संस्कृति की संचालक नहीं बनेगी क्या?

धर्म, नैतिकता और कठोर कानून के दम पर अपराध पर काबू पाना असम्भव है, जब तक अपराध की जड़ों को तलाशा नहीं जाता और उसमें मठ्ठा डाल कर हमेशा-हमेशा के लिए निर्मूल नहीं कर दिया जाता तब तक हालात बदलने वाले नहीं हैं।

उक्त उपायों के बरक्स समाजवादी रूस और कई अन्य देशों ने अपराधों की जड़ों को तलाशने व उसमें मठ्ठा डाल कर निर्मूल करने के सफल उपाय प्रस्तुत किये। सोवियत रूस ने न सिर्फ आर्थिक आधार पर समाज का पुनर्संगठन किया बल्कि मनुष्य जाति को ही वैज्ञानिक सिद्धान्तों के सहारे सही मार्ग दिखाया। अपनी विश्व प्रसिद्ध किताब *'पाप और विज्ञान'* में लेखक *डाइसन कार्टर* ने इसे तथ्यतः प्रस्तुत किया है।

समाजवादी रूस ने कानूनवादियों और धार्मिक नैतिकता बघारने वालों की पोल खोलते हुए अपराधों का विश्लेषण कर एक नये समाज, अपराध मुक्त समाज की सामजिक, आर्थिक और राजनीतिक बुनियाद रखी। अपराध मुक्त समाज के निर्माण के समाजवादी रूस के प्रयोगों की सफलता को देखते हुए कैथोलिक विचारक और अँग्रेजी दैनिक 'कैथोलिक रिकार्ड' के सम्पादक काउन्ट माइकेल दे ल बिदोयेर को दुःखी हो कर कहना पड़ा था कि ''...जैसे भी बने हमें नवीन सत्य को देखना चाहिए और लोगों में नया उत्साह जगाना चाहिए ...इसाई मजहब यह उत्साह नहीं जगा सका तो कम्युनिज्म लोगों को अपने साथ बहा ले जायेगा। ...मास्को का आकर्षण केन्द्र पोप या कैंटरबरी के पादरी से कहीं ज्यादा शक्तिशाली सिद्ध हो रहा है।''

आज हम इतिहास के ऐसे निर्णायक मोड़ पर खड़े हैं जहाँ एक तरफ इतिहास का पुनरावलोकन शोषण और अपराध मुक्त समाज की ओर बढ़ने का मार्ग प्रसस्त करता है। दूसरी तरफ शोषण-उत्पीड़न-लूट और मुनाफे पर टिका समाज पूरी मानव जाति को ही अपराध के दलदल में डुबो देने के लिए तैयार खड़ा है। फैसला हमारे ऊपर है हम किधर जाना चाहते हैं। ❑

# क्योंकि तानाशाहों के लिए खतरनाक थे पाब्लो नेरुदा

**–सतीश**

चिली की सरकार दुनिया की जनता के प्रिय कवि पाब्लो नेरुदा के मृत शरीर को कब्र से निकालकर उसकी जाँच-पड़ताल करने और 40 सहले पहले हुई, उनकी मौत के असली कारणों का पता लगाने की कोशिश कर रही है।

1 सितम्बर 1973 को जनरल अगस्तो पिनोचे द्वारा सीआईए की मदद से चिली में अलेंदे की जनपक्षधर सरकार का तख्तापलट करने के 12वें दिन अचानक नेरुदा की मौत हो गयी थी। उनकी मौत का कारण एक तरह का कैंसर बताया गया था, लेकिन दो साल पहले जब नेरुदा के अंगरक्षक और ड्राइवर मैनुअल अराया ने उनके जीवन के अंतिम दिनों की दास्तान सुनायी तो उनकी मौत को लेकर नये तरह के खुलासे होने लगे। यह आशंका व्यक्त की गयी कि तानाशाह पिनाचे की सरकार ने इस ड़र से नेरुदा की हत्या करवा दी कि कहीं वे तानाशाही के खिलाफ जनता की आवाज बनकर पिनाचे के लिए मुसीबतें न खड़ी कर दें। अराया ने बताया की तख्तापलट के बाद नेरुदा जब मेक्सिको में निर्वासन की योजना बना रहे थे, तो डॉक्टरों ने उन्हें एक इंजेक्शन लगाया जिसके बाद उनकी हालत तेजी से बिगड़ती गयी और उनकी मृत्यु हो गयी।

लातिन अमरीका के इतिहास से परिचित कोई भी व्यक्ति इन आशंकाओं को खारिज नहीं कर सकता। साम्राज्यवादी ताकतों द्वारा लातिन अमरीका के संसाधनों की लूट के कारोबार को बनाये रखने के लिए सीआईए की मदद से वहाँ के जनपक्षधर नेताओं की हत्या करवाने, लोकतांत्रिक सरकारों का तख्तापलट करवाने की घटनाओं से लातिन अमरीका का इतिहास भरा पड़ा है। एदुआर्दो गालिआनो ने अपनी किताब "ओपेन वेंस ऑफ लैटिन अमेरिका" में अच्छी तरह इस बात का लेखा-जोखा लिया है कि वहाँ लूटपाट को बनाये रखने के लिए साम्राज्यवादी ताकतें कैसे कारनामे करती हैं।

शावेज के उत्तराधिकारी निकोलस मेडुरो ने उनकी मृत्यु के बारे में बताया कि अमरीका ने 1940 में ऐसी प्रयोगशालाएँ बनायी थी "जहाँ वे कैंसर पैदा करने को लेकर शोध करते हैं।" इन प्रयोगशालाओं को बने 70 साल बीत चुके हैं। कौन जानता है कि वे अब वहाँ क्या-क्या बनाते होंगे? फिदेल को मारने के प्रयास के कई सारे तरीकों में एक था- उन्हें रेडिओधर्मी विकिरण देकर मारना। बोलीविया के राष्ट्रपति इवो मोरालिस का कहना है कि "जब साम्राज्यवादी लोकतांत्रिक चुनाव और तख्तापलट से सत्ता नहीं हासिल कर पाते हैं, तो वे किसी की हत्या करने जैसे तरीके अपनाते हैं।"

चिली में 9 सितम्बर 1973 को तख्तापलट किये जाने के समय वहाँ के सबसे प्रभावी तीन लोगों- अलेंदे, विक्टर जारा और पाब्लो नेरुदा में से अलेंदे को राष्ट्रपति भवन में ही शहीद होना पड़ा। अलेंदे की मौत के चार दिन के भीतर ही विक्टर जारा को खत्म किया गया और इसके कुछ ही दिनों बाद पाब्लो नेरुदा की रहस्यमय मौत हो गयी।

पूरी तरह स्वस्थ्य होने के बावजूद नेरुदा की मौत से पहले ही पिनोचे की सरकार द्वारा उनकी मौत की आशंका जतायी जाने लगी थी। 22 सितम्बर की सुबह 'जनता' के सदस्य औपचारिक बयान दे रहे थे कि अगर नेरुदा जहाज से मैक्सिको जायेंगे तो उनका जहाज पानी में गिर जाएगा और उसी दोपहर सेना के प्रभाव में काम करने वाले रेडियो स्टेशन ने यह प्रसारित किया कि कुछ ही घंटों में नेरुदा की मौत हो सकती है, जबकि तब नेरुदा उस समय हॉस्पिटल में जाग रहे थे। और सचमुच उसके अगले ही दिन उनकी मौत हो जाती है।

ऊपर के तथ्य यह बयान करते हैं कि नेरुदा की रहस्यात्मक मौत की जाँच से बहुत सारी गुत्थियाँ सुलझ सकती हैं।

## दुनिया की जनता का प्रिय कवि

नेरुदा की जिंदगी और उनकी रचनाएँ खुद इस बात का प्रमाण हैं कि यह जनकवि अमरीकी साम्राज्यवाद और चिली में उसकी कठपुतली पिनोचे की सरकार को क्यों इतना खतरनाक मालूम होता था।

नेरुदा रचनात्मक, उत्कट और रोमानी कविता के लिए जाने जाते थे। जिनमें 1924 में प्रकाशित "बीस प्रेम कविताएँ" और 'निराशा का एक गीत' सबसे प्रसिद्ध है। ये रचनाएँ देखते

ही देखते किशोरों के लिए 'बाइबल' बन गये थे। नेरुदा एक वामपंथी राजनीतिज्ञ, कूटनीतिज्ञ और सल्वाडोर अलेंदे के बहुत अच्छे दोस्त थे।

नेरुदा की कविताओं के प्रशंसकों की बहुत बड़ी तादाद केवल चिली में ही नहीं, बल्कि पूरी दुनिया में थी और आज भी है। उनका जुड़ाव किस हद तक जन सामान्य के साथ था, यह उनके ही शब्दों में "जनता का हजूम मेरी जिंदगी का सबसे बड़ा सबक रहा है। एक कवि के दब्बूपन सहित, किसी दब्बू के डर के साथ मैं जन साधारण में शामिल हो सकता हूँ, लेकिन एक बार उसमें घुस जाऊँ तो मेरा रूपांतरण हो जाता है। मैं सारतः बहुमत का हिस्सा हूँ विशाल मानवीय पेड़ का मैं एक और पत्ता हूँ।"

1930 और 1940 के दशक में होने वाले फासीवाद विरोधी संघर्षों के दौरान नेरुदा का क्रांतिकारी रूपांतरण हुआ। जान का खतरा होने के कारण उन्हें देश छोड़ना पड़ा। घोड़े पर सवार होकर उन्होंने इंडीज पर्वत पार किया और मेक्सिको पहुँचे, जहाँ उनके मित्र पाब्लो पिकासो और डिएगो रिवेरा ने उनकी सहायता की।

नेरुदा ने स्पेन युद्ध के दौरान वहाँ की जनता के साथ मिलकर काम किया था। स्पेन युद्ध का उन पर बहुत प्रभाव पड़ा। "जब पहली गोलियों ने स्पेन के गिटार तोड़े, जब उन गिटारों से संगीत की जगह खून निकला तब मेरी कविता इंसानी परिताप की गलियों में प्रेत बनकर ठहर जाती है और खून की धारा बहने लगती है। मैं देखता हूँ कि अचानक एकाकीपन के दक्षिण से मैं उत्तर की तरफ चला गया हूँ, इंसानों की तरफ, जिनकी तलवार और रुमाल बनना चाहती है मेरी कविता। जिनके ऊपर दुखों के पसीने को सुखाना चाहती है और रोटी की जद्दोजहद में जिनका हथियार बनना चाहती है। और फिर आसमान खुल जाता है। गहरा और स्थाई बन जाता है। ...स्पेन की यात्रा ने मुझे और ज्यादा हिम्मत और समझ दी थी।"

नेरुदा ने दुनिया के बहुत सारे देशों-- रूस, स्पेन, फ्रांस, श्रीलंका आदि की खूब यात्रा की। भारत की यात्रा उन्होंने दो बार की-- एक बार आजादी से पहले और दूसरी बार आजादी के बाद।

नेरुदा ने अपनी कविता में उन छोटी से छोटी चीजों को शामिल किया है जिस पर बहुत से कवियों का ध्यान ही नहीं जाता और जिन्हें तुच्छ समझकर नजरअंदाज कर देते हैं। नेरुदा बताते हैं– "साहित्यिक परिष्करण इस तरह छिछोरेपन तक पहुँच चुका था। वे गलत थे। हम उन छोटी चीजों पर भी कविताएँ करेंगे, जिन्हें ऊँची पसंद के उस्तादों ने ठुकरा दिया। बुर्जुआ लोग ऐसी कविताएँ चाहते हैं जो सच्चाई से ज्यादा से ज्यादा परे हों। एक कंजूस पूँजीवाद के लिए वह कवि एक खतरा है जो रोटी को रोटी और मदिरा को मदिरा कहता हो।"

पाब्लो नेरुदा की कविताओं के साथ-साथ उनका जीवन भी आज की पीढ़ी के लिए एक देदीप्यमान प्रकाश स्तम्भ है। ऐसे समय में जब दुनियाभर में प्रतिक्रियावादी ताकतों की मार मेहनतकश लोगों पर चौतरफा पड़ रही है, नेरुदा का जीवन हमें देश-राष्ट्र की सीमाओं को लाँघकर एकजुट होने, छोटी से छोटी चीजों को भी नजरअंदाज न करने, मेहनतकश जनता के साथ घुलने-मिलने और निरंतर संघर्ष करते रहने की प्रेरणा देता है।

❑

## सप्रश्न कविताएँ

**(1)**

**पाब्लो नेरुदा के बतौर जाने जाने से बढ़कर**
**क्या कोई खब्त है इस जीवन में?**

**क्या मेघों का कोई कलेक्टर तैनात है**
**कोलम्बिया के ऊपर : आसमान में?**

**क्यों, हरदम लन्दन में ही क्यों**
**आयोजित करते हैं वे छतरी कांग्रेसें?**

**क्या शीबा की साम्राज्ञी के जिस्म में**
**बैंगनी रंग का खून बहता था?**

**बॉदलेयर जब रोया तो उसने**
**क्या काले आँसू गिराये थे।**

**(2)**

**इस दुनिया में जो कुछ हासिल करना मेरा मकसद था**
**उसकी बाबत किससे अर्ज कर सकता हूँ?**

**क्यों चलता-फिरता हूँ बिना किसी ख्वाहिश के,**
**नीरव-निश्चेष्ट खड़ा क्यों नहीं रह पाता?**

**डोलता रहता हूँ क्यों यहाँ-वहाँ बिना पहियों के**
**पंखों या डैनों के बगैर क्यों उड़ता फिरता हूँ?**

**और भला, देशान्तरण की बात कैसे कर सकता हूँ**
**अगर मेरी अस्थियाँ चीले में ही रहती हैं?**
**(पाब्लो नेरुदा : प्रेम कविताएँ, अनुवाद : मधु शर्मा)**

विश्व साहित्य

# लेखक को इतिहासकार होना होता है

## –चिनुआ अचेबे

**(अफ्रीकी साहित्य के पितामह कहे जाने वाले चिनुआ अचेबे ने, जिनका निधन पिछले महीने 21 मार्च को हो गया, लेखन को हमेशा एक तरह का रचनात्मक सक्रियतावाद माना। उनका लेखन महज एक लेखक की रचना यात्रा नहीं बल्कि अफ्रीकी महादेश की पीड़ा की भी यात्रा है। उनके लेखन और संघर्ष को यह साक्षात्कार --जिसे यहाँ आत्म वक्तव्य की शक्ल में ढाला गया है-- काफी गहराई से सामने लाता है।)**

जहाँ तक बचपन में कहानियाँ लिखने की प्रेरणा की बात है, उस दौर में कहानियाँ लिखना सम्भव नहीं था। इसलिए तब इस बारे में सोचा भी नहीं। हाँ, इतना जरूर है कि मुझे यह पता था कि मुझे कहानियाँ पसंद हैं। कहानियाँ जो मेरे घर में सुनायी जाती थीं, पहले मेरी माँ द्वारा, फिर मेरी बड़ी बहन द्वारा। जैसे कछुए की कहानी- या कोई भी कहानी जो मैं लोगों की बातचीत के भीतर से ढूँढ़ लेता था। जब मैंने स्कूल जाना शुरू किया, तब जो कहानियाँ मैं पढ़ा करता था, वे मुझे अच्छी लगती थीं। वे दूसरी तरह की कहानियाँ थीं। लेकिन मुझे अच्छी लगती थीं। नाईजीरिया के मेरे हिस्से में मेरे माता-पिता ईसाई धर्म में धर्मांतरित होनेवाले शुरुआती लोगों में से थे। उन्होंने सिर्फ धर्म ही नहीं बदला था, मेरे पिता ईसाई धर्म प्रचारक भी थे। वे और मेरी माँ वर्षों तक इग्बोलैंड के विभिन्न हिस्सों में ईसाई धर्म का प्रचार करने के लिए घूमते रहे। मैं छह भाई बहनों में पाँचवाँ था। जब मैं बड़ा हो रहा था, तब तक मेरे पिता रिटायर हो चुके थे और अपने परिवार के साथ अपने पुश्तैनी गाँव में आकर बस गये थे।

जब मैंने स्कूल जाना शुरू किया और पढ़ना सीखा, मेरा सामना दूसरे लोगों और दूसरी धरती की कहानियों से हुआ। ये कहानियाँ मुझे बहुत अच्छी लगती थीं। इनमें कई अजीब-अतार्किक किस्म की होती थीं। जब मैं बड़ा हुआ, मैंने रोमांच कथाओं को पढ़ना शुरू किया। तब मुझे नहीं पता था कि मुझे उन बर्बर-आदिम लोगों के साथ खड़ा होना है, जिनकी मुठभेड़ अच्छे गोरे लोगों से हुई थी। मैंने सहज बोध से गोरे लोगों का पक्ष लिया। वे अच्छे थे! वे काफी अच्छे थे! बुद्धिमान थे! दूसरी तरफ के लोग ऐसे नहीं थे। वे मूर्ख थे। बदसूरत थे। इस तरह मुझे अपनी कहानी के न होने के खतरे से परिचय हुआ। एक महान कहावत है- जब तक शेर की तरफ से इतिहास लिखने वाला नहीं होगा, जब तक शिकारी का इतिहास हमेशा उसे ही महिमामंडित करेगा। यह बात बहुत बाद तक मेरी समझ में नहीं आयी। जब मुझे एहसास हुआ कि मुझे लेखक बनना है, तब मुझे यह पता था कि मुझे वह इतिहासकार बनना है। यह किसी अकेले का काम नहीं है। यह एक ऐसा काम है, जिसे हम सबको मिलकर साथ करना है, ताकि शिकार के इतिहास में शेर की पीड़ा, उसका कष्ट, उसकी बहादुरी भी झलके।

मेरी उच्च शिक्षा इबादान विश्वविद्यालय में हुई तब यह नया-नया खुला ही था। एक तरह से यह उपनिवेशवादी समय के विरोधाभासों का आईना था। अगर अंग्रेजों ने नाइजीरिया में कुछ बेहतर काम किये, तो इबादान उनमें से एक था। यह लंदन यूनिवर्सिटी के एक कॉलेज के तौर पर शुरू हुआ था। उपनिवेशी शासन में चीजें ऐसी ही होती थीं। आप किसी और की पूँछ के तौर पर काम करना शुरू करते हैं। मुझे जो डिग्री मिली वह लंदन यूनिवर्सिटी की ही थी। आजादी जब आयी, तब इसके प्रतीकों में से एक यह भी था कि इबादान यूनिवर्सिटी के तौर पर अस्तित्व में आया।

मैंने पढ़ाई विज्ञान से शुरू की। फिर अंग्रेजी, फिर इतिहास फिर धर्म। मुझे ये विषय काफी रोचक और काम के लगे। धर्म का अध्ययन मेरे लिये नया और उत्सुकता पैदा करनेवाला था, क्योंकि इसमें सिर्फ ईसाई धर्म दर्शन शामिल नहीं था, इसमें पश्चिमी अफ्रीका के धर्मों का अध्ययन भी शामिल था। वहाँ मुझे जेम्स वेल्स नाम के एक शिक्षक मिले। वे प्रभावशाली उपदेशक थे। एक बार उन्होंने मुझसे कहा, हम तुम्हें शायद वह नहीं पढ़ा सकते जिसकी तुम्हें जरूरत है, हम तुम्हें सिर्फ वही पढ़ा सकते हैं, जितना हम जानते हैं। मुझे लगा वे बेहद मार्के की बात कह रहे हैं। यह मुझे मिली सबसे अच्छी सीख थी। मैंने वहाँ सचमुच वैसा कुछ नहीं सीखा जिसकी मुझे जरूरत थी, सिवाय इस भाव के कि मुझे अपने बल पर अपना रास्ता बनाना है। अंग्रेजी विभाग इसका उम्दा उदाहरण था। वहाँ मौजूद लोग इस विचार पर ही

हँस देते कि हम में से कोई लेखक बनेगा।

मेरी पहली दो किताबों- 'थिंग्स फॉल अपार्ट' और 'नो लॉन्गर एट ईज' के शीर्षक क्रमशः आइरिश और अमरीकी कवियों की कविताओं की पंक्तियों से हैं। ऐसा शायद इसलिए था कि ऐसा एक तरह के दिखावे के लिए था। मैंने अंग्रेजी से जनरल डिग्री ली थी और मुझे इसका प्रदर्शन करना था। लेकिन येट्स! मुझे भाषा के प्रति उनकी मोहब्बत, उनका प्रवाह अच्छा लगता था। वे दिल से हमेशा सही पक्ष में रहे।

मेरे उपन्यास 'थिंग्स फॉल अपार्ट' की पांडुलिपि की कहानी लम्बी है। सबसे पहले तो यह लगभग खो ही गयी थी। 1957 में मैं स्कॉलरशिप हासिल कर कुछ दिन बीबीसी में जाकर पढ़ाई करने के लिए लंदन गया था। मैं थिंग्स फॉल अपार्ट का पहला ड्रॉफ्ट अपने साथ ले गया था, ताकि मैं इसे पूरा कर सकूँ। वहाँ मैंने अपने एकमात्र नाइजीरियाई साथी के कहने पर वह पांडुलिपी बीबीसी में इंस्ट्रक्टर और उपन्यासकार गिलबर्ट फेल्प्स को दी। पांडुलिपी पाकर उन्होंने कोई उत्साह नहीं दिखाया था। वे होते भी क्यों? लेकिन उन्होंने काफी विनम्रता के साथ वह पांडुलिपी ले ली थी। वे मेरे अलावा पहले व्यक्ति थे, जिन्हें वह पांडुलिपी रोचक लगी थी। बल्कि उन्हें इसने इस तरह प्रभावित किया था कि एक शनिवार वे मुझे खोजते रहे, ताकि वे मुझे इसके बारे में बता सकें। मैं लंदन से बाहर आ गया था। जब उन्हें यह मालूम हुआ, तो उन्होंने पता लगाया कि मैं कहाँ हूँ और मेरे होटल में फोन किया और मेरे लिए पलट कर उन्हें फोन करने का संदेश छोड़ा। उनका यह संदेश मिलने पर मैं पूरी तरह बाग-बाग हो गया। मैंने अपने आप से कहा कि शायद उन्हें उपन्यास पसंद नहीं आया। फिर लगा कि अगर ऐसा होता, तो उन्होंने मुझे फोन ही क्यों किया होता! कुछ भी हो, मैं काफी रोमांचित था। जब मैं लंदन वापस लौटा, तो उन्होंने कहा, यह लाजवाब है। उन्होंने मुझसे पूछा कि क्या मैं चाहता हूँ कि यह उपन्यास मैं अपने प्रकाशक को दिखाऊँ! मैंने कहा- हाँ, लेकिन अभी नहीं, क्योंकि मुझे लगता है कि इसका फॉर्म सही नहीं है। मैं तीन परिवारों की गाथा लिखना चाह रहा था, इसलिए मैंने अपने पहले ड्राफ्ट में काफी कुछ समेटने की कोशिश की थी, इसलिए मुझे लग रहा था कि मुझे कुछ क्रांतिकारी करने की जरूरत है, ताकि मैं इसे ज्यादा बड़ा कलेवर दे सकूँ।

इंग्लैंड में मैंने एक टाइपिंग एजेंसी का विज्ञापन देखा था। मुझे एहसास था कि अगर आप प्रकाशक पर सचमुच प्रभाव जमाना चाहते हैं, तो आपको अपनी पांडुलिपी टाइप कराके भेजनी चाहिए। मैंने अपने हाथ से लिखे उपन्यास की पांडुलिपि, जो उसकी एकमात्र पांडुलिपी थी, नाइजीरिया से लंदन पार्सल कर दी। उन्होंने जवाब भेजा कि पांडुलिपी की टाइपिंग के लिए प्रत्येक कॉपी के हिसाब से 32 पाउंड लगेंगे। मैंने ब्रिटिश पोस्टल ऑर्डर से यह रकम भेज दी। इसके बाद महीनों गुजर गये, लेकिन उनकी तरफ से कुछ भी सुनने को नहीं मिला। मैं उन्हें चिट्ठियाँ लिखता रहा, लिखता रहा। उधर से कोई जवाब नहीं आया। एक शब्द भी नहीं। मैं चिंता में दुबला और दुबला और दुबला होता जा रहा था। आखिरकार मैं खुशकिस्मत था। जिस ब्रॉडकास्टिंग हाउस में मैं काम करता था, उसमें मेरे बॉस छुट्टियों में लंदन जा रहे थे। उन्हें मैंने इसके बारे में बताया। आखिरकार लंदन में उनकी कोशिशों के बाद मुझे थिंग्स फॉल अपार्ट की टाइप की हुई कॉपी मिली। सिर्फ एक। न कि दो। खैर जब यह वापस लौट कर आयी तब मैंने इसे अपने प्रकाशक हिनेमैन को भेजा। उन्होंने इससे पहले कभी कोई अफ्रीकी उपन्यास नहीं देखा था। उन्हें नहीं पता था कि इस उपन्यास के साथ आखिर करना क्या है! उन्होंने लंदन स्कूल ऑफ इकोनॉमिक्स के अर्थशास्त्र और राजनीति शास्त्र के प्रोफेसर से इस पर सलाह माँगी। वे हाल ही में नाइजीरिया से लौटे थे। उन्होंने इस उपन्यास के बारे में लिखा था, जो मेरे प्रकाशक के अनुसार किसी उपन्यास पर की गयी सबसे छोटी टिप्पणी थी। ''विश्वयुद्ध के बाद का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास''। पहले इस उपन्यास की काफी कम कॉपी छापी गयी थी। ऐसा उन्होंने पहले कभी नहीं किया था। लेकिन यह काफी जल्दी आउट ऑफ प्रिंट हो गया। उपन्यास की कहानी इसी जगह पर रुक जाती अगर प्रकाशक ने इसके पेपरबैक संस्करण को छापने का एक और जुआ नहीं खेला होता। इस तरह अफ्रीकी राइटर्स सीरीज अस्तित्व में आया। ऐलन हिल को अफ्रीकी साहित्य की खोज के लिए ब्रिटेन में सम्मानित किया गया।

सृजन की प्रक्रिया हर रचना के लिए एक समान नहीं होती। मुझे लगता है कि सबसे पहले एक सामान्य विचार आता है, उसके ठीक बाद अहम किरदार आते हैं। हम लोगों के सामान्य विचारों के समुद्र के बीच में रहते हैं, इसलिए यह अपने आप में उपन्यास नहीं है, क्योंकि सामान्य विचार अनगिनत संख्या में हैं। लेकिन जिस क्षण एक खास विचार एक किरदार से जुड़ जाता है, यह कुछ ऐसा होता है, जैसे कोई इंजन चल पड़े। तब एक उपन्यास बनने लगता है। यह खासकर उन उपन्यासों के संदर्भ में सही बैठता है, जिसमें विशिष्ट और

कद्दावर चरित्र होते हैं, जैसे देवता के बाण में एजुलू। ऐसे उपन्यासों में जिसमें किरदार का व्यक्तित्व उस तरह का सब पर छा जाने वाला नहीं होता है, जैसे 'नो लॉन्गर एट ईज', मुझे लगता है कि एक सामान्य विचार कम से कम शुरुआती अवस्था में ज्यादा अहम होता है। लेकिन जब यह शुरुआती अवस्था बीत जाती है, सामान्य विचार और चरित्र में कोई ज्यादा अंतर नहीं होता है। दोनों अहम हो जाते हैं।

जैसे कोई उपन्यास आगे बढ़ता है, मैं प्लॉट या थीम के बारे में ज्यादा चिंता नहीं करता हूँ। सारी चीजें खुद-ब-खुद आती हैं, क्योंकि तब किरदार कहानी को अपने हिसाब से मोड़ रहे होते हैं। एक बिंदु पर आकर लगता है कि जैसे आपका घटनाओं पर उस तरह का नियंत्रण नहीं है, जैसा आपने सोचा था। कुछ चीजें ऐसी होती हैं, जिन्हें वहाँ होना ही चाहिए, नहीं तो कहानी अधूरी लगेगी। और ऐसी चीजें खुद ब खुद आ जाती हैं। जब ऐसा नहीं होता है, तब आप मुश्किल में होते हैं और उपन्यास रुक जाता है।

मेरे लिए लिखना एक कठिन काम है। कठिन शब्द इसे बताने के लिए काफी नहीं है। यह एक तरह से एक कुश्ती की तरह है। आपको विचारों और कहानी के साथ कुश्ती लड़नी होती है। इसके लिए काफी ऊर्जा की जरूरत होती है। लेकिन इसी क्षण यह काफी रोचक भी है। इसलिए लिखना एक साथ कठिन और आसान दोनों है। आपको यह स्वीकार करना होता है कि जब आप लिख रहे होते हैं, तब आपकी जिंदगी पहले वाली नहीं रह जाती। मेरे लिए लिखना एक तरह से कैद में चले जाना है। फिर चाहे कितना भी वक्त लगे आप इस कैद से बाहर नहीं आ सकते। इसलिए यह एक साथ कठिन और उल्लास देने वाला, दोनों है।

मैंने महसूस किया है कि मैं सबसे अच्छा तब लिखता हूँ, जब मैं नाइजीरिया में अपने घर में होता हूँ। लेकिन आदमी दूसरी जगहों पर भी रह कर काम करना सीखता है। जिस परिवेश के बारे में मैं लिख रहा हूँ, लिखने के लिहाज से वह परिवेश मेरे लिए सहज होता है। दिन का वक्त खास मायने नहीं रखता। मैं सुबह जागने वाला व्यक्ति नहीं हूँ। मुझे बिस्तर से बाहर निकलना अच्छा नहीं लगता, इसलिए मैं पाँच बजे जगकर लिखना नहीं शुरू करता, हालाँकि मैंने सुना है कि कई लोग ऐसा करते हैं। मैं अपने दिन की शुरुआत के बाद लिखना शुरू करता हूँ और रात गये तक लिख सकता हूँ। लिखने का अनुशासन मेरे लिए यह है कि मुझे किसी भी सूरत में काम करना है। इससे फर्क नहीं पड़ता कि मैं कितना लिख पा रहा हूँ।

मैं पेन से ही लिखता हूँ। कागज पर पेन मेरे लिए सबसे मुफीद तरीका है। मैं मशीनों के साथ सहज नहीं हो पाता। जब भी मैं टाइपराइटर पर कुछ काम करना चाहता हूँ, मुझे लगता कि यह मेरे और मेरे शब्दों के बीच आ रहा है। जो बाहर निकलता है, वह वैसा नहीं होता है, जो बेफिक्र होकर लिखते हुए आता। इस मामले में मैं शायद पूर्व औद्योगिक व्यक्ति हूँ।

जहाँ तक लेखक का सार्वजनिक बहसों में खुद को शामिल करने का सवाल है, मुझे लगता है कि इसके लिए कोई सामान्य नियम नहीं बनाया जा सकता। लेकिन मुझे लगता है कि लेखक सिर्फ लेखक नहीं होता। वह एक नागरिक भी होता है। मेरा हमेशा से मानना रहा है कि गम्भीर और अच्छे साहित्य का अस्तित्व हमेशा से मानवता की मदद, उसकी सेवा करने के लिए रहा है, न कि उसे सवालों के घेरे में लाने या उस पर दोषारोपण करने के लिए। कोई कला कैसे कला कही जा सकती है, अगर इसका मकसद मानवता को हताश करना हो। हाँ, यह मानवता को असहज कर सकता है। यह मानवता के खिलाफ नहीं हो सकता। यही कारण है कि मैं नस्लवाद को असहनीय मानता हूँ। कुछ लोगों को लगता है कि मेरे कहने का मतलब यह है कि अपने लोगों की प्रशंसा करनी चाहिए। भगवान के लिए जाइये और मेरी किताबें पढ़िये। मैं अपने लोगों की प्रशंसा नहीं करता। मैं उनका सबसे बड़ा आलोचक हूँ। कुछ लोगों को लगता है कि मेरा छोटा सा पर्चा- द ट्रॉबल विद नाइजीरिया, थोड़ा अतिवादी था। मैं अपने लेखन के कारण हर तरह की समस्या में पड़ता रहा हूँ। कला को हमेशा मानवता के पक्ष में होना चाहिए।

**(पेरिस रिव्यू में छपे एक पुराने साक्षात्कार के आधार पर तैयार। अवनीश मिश्रा के ब्लॉग अखरावट से साभार)**

❑

# प्यूएत्रो रिको निवासी के लिए शोक गीत

**–पेद्रो पियेत्री**

**पेद्रो पियेत्री इस कविता का पहला पाठ 1969 में साम्राज्यवाद विरोधी लातिन अमेरिकी नौजवानों के समूह यंग लॉर्ड्स पार्टी के समर्थन में आयोजित न्यूयार्क रैली में किया गया था। ब्लैक पैंथर पार्टी की तरह ही यंग लॉर्ड्स भी सामुदायिक कार्यकर्ता थे, जो जायज और सस्ते मकान तथा समूचित स्वास्थ्य सेवा की माँग का समर्थन करते थे और बच्चों के लिए मुफ्त नाश्ता कार्यक्रम चलाते थे। उन्होंने अपने पास-परिवेश के जुझारूपन को वियतनाम और दूसरे देशों में अमरीकी साम्राज्यवाद की दुस्साहसिक कार्रवाइयों को रोकने, तीसरी दुनिया की मुक्ति, गरीब और अफ्रीकी-अमरीकी लोगों का दमन खत्म करने तथा एक समाजवादी समाज के निर्माण के आह्वान से जोड़ा। 1970 के दशक के मध्य में अमरीकी सरकार के उकसावे पर यंग लॉर्ड्स को तहस-नहस कर दिया गया, लेकिन पेद्रो पियेत्री एक क्रांतिकारी कार्यकर्ता और कवि के रूप में निरन्तर सक्रिय रहे और उन्हें अपनी इन दोनों तरह की भूमिकाओं में कोई अन्तर नहीं दिखा। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उन्होंने *न्यूयार्कियन पोएट्स कैफे* की स्थापना की और उसे जारी रखने में सहयोग दिया जो प्रतिरोधी कला और साहित्य का प्रतिष्ठित केन्द्र था।**

**पेद्रो पियेत्री का जन्म 1944 में प्यूऐत्रो रिको के पेन्स नामक स्थान में और लालन-पालन हार्लेम में हुआ था। हाईस्कूल तक पढ़ाई करने के बाद उन्हें अमरीकी सेना में भर्ती कर लिया गया, वियतनाम युद्ध में लड़ने भेजा गया और जब वहाँ से वापस आये तो वे युद्ध और युद्ध को जन्म देने वाली व्यवस्था के प्रबल विरोधी हो गये। ''मुझे एहसास हुआ कि असली दुश्मन कौन है। दुश्मन काले पाजामें वाले वियतकांग नहीं, बल्कि अमरीकी भाड़े के सैनिक थे जिन्होंने उनके देश पर हमला किया था।'' व्यवस्था के खिलाफ गुस्से में आग-बबूला होकर उन्होंने ''प्यूएत्रो रिको निवासी के लिए शोक गीत'' कविता लिखी जो पहली बार 1973 में इसी शीर्षक से मन्थली रिव्यू प्रेस द्वारा प्रकाशित उनकी रचनाओं के संग्रह और दूसरे आठ अलग-अलग काव्य संकलनों में प्रकाशित हुई। तीन मार्च 2004 को 59 वर्ष की आयु में कैंसर से ग्रस्त होने के कारण पेद्रो पियेत्री की मृत्यू हो गयी।**

**''प्यूएत्रो रिको निवासी के लिए शोक गीत'' का प्रभाव, अर्न्तदृष्टि और संदेश आज भी पूरी दुनिया के कार्यकर्ताओं और स्वप्नदर्शियों के बीच गुंजायमान हो रहा है। जैसा कि न्यूयार्क टाइम्स ने (लगभग 10 साल पहले) लिखा था- ''तीन दशक पहले इस कविता ने एक आंदोलन प्रज्वलित किया था।''**

उन्होंने मेहनत की
वे हमेशा समय से आये
उन्होंने कभी देर नहीं की
उन्होंने कभी पलट कर जवाब नहीं दिया
जब उन्हें अपमानित किया गया
उन्होंने मेहनत की
उन्होंने एक दिन भी छुट्टी नहीं की
सरकारी छुट्टियों के अलावा
वे बिना अनुमति के
हड़ताल पर नहीं गये
उन्होंने मेहनत की
सप्ताह में दस दिन
और केवल पाँच दिन की मजदूरी मिली
उन्होंने मेहनत की
उन्होंने मेहनत की
उन्होंने मेहनत की
और वे मर गये
वे मर गये तबाह होकर
वे मर गये कर्ज के बोझ से
वे मर गये बिना जाने
कि कैसा लगता है प्रवेश द्वार
पहले राष्ट्रीय सिटी बैंक का

जुआन
मिगुएल
मिलाग्रोस
ओल्गा
मैनुएल
सब मर गये कल आज
और दुबारा मरेंगे कल
अपने कर्ज का बोझ
सबसे करीबी रिश्तेदार को सौंपकर
सब मर गये
इस इन्तजार में कि
इजेन का बाग
उनकी खातिर दुबारा खुलेगा
नये प्रबंध तंत्र के आने पर
सब मर गये
यही सपना देखते हुए कि अमरीका
आधी रात को उन्हें जगायेगा
खुशी से चिल्लाते मीरा-मीरा
तुम्हारे नाम लॉटरी निकली है
एक लाख डॉलर
सब मर गये
नफरत करते पंसारी दुकानदार से
जिसने धोके से बेच दिया उन्हें सड़ा कबाब
और बुलेट-प्रूफ चावल और सेम
सब मर गये इन्तजार करते
सपना देखते और नफरत करते
मृत प्यूएत्रो रिको निवासी
जिन्होंने कभी नहीं जाना कि वे
प्यूएत्रो रिको से हैं
जिन्होंने कभी नहीं लिया
कॉफी पीने का अवकाश
धर्मोपदेशों का उल्लंघन करके
कि अन्त कर दें अपनी टूटी खोपड़ी के मालिक का
और बतियाएँ अपनी लातिन अमरीकी रूह से

जुआन
मिगुएल
मिलाग्रोस
ओल्गा
मैनुएल
भग्न स्नायु गलियों के वासी
जहाँ चूहे जीते हैं करोड़पतियों की तरह
और लोग जीते ही नहीं बिल्कुल
और मर गये और कभी जीवित नहीं थे
जुआन
मरा इस इंतजार में कि कब आयेगा उसका नम्बर
मिगुएल
मरा सहायता राशि चेक के इंतजार में
कि आये और जाये और फिर आये
मिलाग्रोस
मरी इस इंतजार में
कि उसके दस बच्चे
कब बड़े हों और काम पर लगें
कि वह काम छोड़े
ओल्गा
मरी इंतजार करते कि वेतन में पाँच डॉलर बढ़ोत्तरी हो
मेनुअल
मरा इंतजार में कि मरे उसका मेठ
ताकि हो जाये उसकी तरक्की
काफी लम्बा सफर है
स्पेनी हरले से
सुदूर टापू का कब्रिस्तान
जहाँ वे दफनाये गये
पहले रेल से
और फिर बस से
और खाने के लिए बेमुरव्वत कटौती
और फूल
जिन्हें चुरा लिया जायेगा
जब दर्शन का समय बीत जायेगा
बहुत खर्चीला है
बहुत खर्चीला है
लेकिन वे समझते हैं
उनके माता-पिता समझते थे
कि यह लम्बी दूरी की बेमतलब यात्रा है
स्पेनी हरलेम से
सुदूर टापू पर बने कब्रिस्तान तक
जुआन
मिगुएल

मिलाग्रोस
ओल्गा
मैनुएल
सब मर गये कल और आज
और फिर मरेंगे कल
सपना देखते
सपना रानियों का
साफ सुथरे, सफेद कुमुदनी जैसे
परिवेश का
जहाँ नहीं दिखे
प्यूएत्रो रिको निवासी
तीस हजार डॉलर का मकान
इमारत में रहने वाला
पहला लातिनी
उस इलाके में बसने का गौरव
जहाँ रहने वाले फिरंगी चाहते हैं
उन्हें पीट-पीट कर मार डालना,
गौरव बहुत दूर होने का
इस पवित्र सूक्ति से-- 'क्या हाल चाल है'
ये सपने
ये खोखले सपने
छलमय शयन कक्षों के
जो छोड़ गये माँ बाप
स्वाभाविक असर है
टेलीविजन कार्यक्रमों का
आदर्श गोरे अमरीकी
परिवार के बारे में
काली नौकरानियों वाले
और लातिन अमरीकी दरबान
जो अच्छी तरह प्रशिक्षित हैं
कि कैसे हर कोई उन पर हँसे
और उनका साहूकार भी
और जिनके वे नुमाइंदे हैं वे भी

जुआन
मरा एक नयी मोटर गाड़ी का
सपना देखते
मिगुएल मरा
नये गरीबी उन्मूलन कार्यक्रम का सपना देखते
मिलाग्रोस
मरी प्यूएत्रो रिको जाने का
सपना देखते
ओल्गा
मरी असली गहनों का सपना देखते
मैनुएल
मरा आयरिश घुड़दौड़ पर दाँव लगाने का सपना देखते

वे सब मर गये
जैसे एक नायक मरता है बीच में फँस कर
कपड़ा उद्योग के इलाके में
दोपहर के बारह बजे
सामाजिक सुरक्षा कार्ड राख में
यूनियन का बकाया धूल में

वे जानते थे वे पैदा हुए रोने के लिए
अन्तिम संस्कार करने वालों को नौकरी पर रखवाने के लिए
जैसी ही वे निष्ठा की कसम खाते हैं
उस झण्डे के प्रति जो चाहता है उन्हें तबाह करना
उन्होंने देखे अपने नाम
तबाही की टेलीफोन निर्देशिका में
उन्हें सिखाया गया भूलना
समाचार पत्रों की दूसरी गुस्ताखी को
जो गलत हिज्जे, गलत उच्चारण करते
और कुछ का कुछ समझ लेते हैं उनके नाम
और जश्न मनाते हैं उनकी मौत पर
और मार लेते हैं उनके कफन-दफन का खर्चा
वे मृत पैदा हुए थे
और वे मुर्दा मरे

समय है
दुबारा सिस्टर लोपेज से मिलने का
बेहतरीन सगुन उचाटने वाली
पत्तों से भाग्य पढ़ने वाली
स्पेनी हर्लेम में
वह संवाद कायम करेगी
तुम्हारे मृत सम्बंधियों के साथ
वाजिब दक्षिणा देकर
अच्छे नतीजे की गारण्टी है

जाग पत्ते जाग बता दे भाग
मौत नहीं तू गूँगा-बहरा लूला-लँगड़ा
तुम्हें चाहने वाले जानना चाहते हैं
किस नम्बर पर दाँव लगायें
अभी बतायें सही बतायें
जाग पत्ते जाग बता दे भाग
मौत नहीं तू गूँगा-बहरा लूला-लँगड़ा
अब जब खत्म हो गयीं तेरी मुसीबतें
और दुनिया का बोझ उतर गया कंधे से
मदद कर उन्हें जो छूट गये पीछे

जाग पत्ते जाग बता दे भाग
मौत नहीं तू गूँगा-बहरा लूला-लँगड़ा
अगर सही नम्बर छू जायें
सभी मुसीबत दूर भगायें
फिर हम आयेंगे तेरी कब्र पर
हर सरकारी छुट्टी के दिन
तुम्हें चाहने वाले जानना चाहते हैं
किस नम्बर पर दाँव लगायें
अभी बतायें सही बतायें
हमें पता है सक्षम है तुम्हारी आत्मा
मौत नहीं तू गूँगा-बहरा लूला-लँगड़ा
जाग पत्ते जाग बता दे भाग

जुआन
मिगुएल
मिलाग्रोस
ओल्गा
मैनुएल
सब मर गये कल और आज
और फिर मरेंगे कल
नफरत करते लड़ते झगड़ते और चोरी करते
आपस में टूटी खिड़कियों से
धर्म का पालन करते खुले आकाश के नीचे
नया विधान
पुराना विधान
देशी राजस्व के
न्यायाधीश और ज्यूरी और जल्लाद के
संरक्षित और देशी सूदखोर के
सिद्धांतो के मुताबिक
पुराने सामान बेचने वाले कबाड़ी
'कैसे हैं आप' कहना सीखो
और तुम्हारी किस्मत चमक जायेगी
और वे मर गये
वे मर गये
और मर कर वापस नहीं आयेंगे
बिना बन्द किये लापरवाही
अपनी बातचीत की कला का
टूटी फूटी अँग्रेजी के पाठ को लेकर
ताकि भाव जमे मिस्टर गोल्डस्टीनों पर
जो बरकरार रखते हैं उनकी नौकरी
बर्तन धोने वाला किरानी कुली हरकारा लड़कों
फैक्ट्री मजदूरों नौकरानियों मालबाबुओं
लदान बाबुओं डाकघर सहायक
सहायक, सहायक, सहायक
से लेकर सहायक के सहायक
बर्तन धोने वाले का सहायक और खुद-ब-खुद
बनावटी हँसी हँसने वाला द्वारपाल वह भी
अब तक की सबसे कम मजदूरी पर
जिसे बढ़ाने की माँग पर आग बबूला हो जाता है
क्योंकि यह कम्पनी की नीति के खिलाफ है
पदोन्नती देना किसी लातिनो को

जुआन
मर गया मिगुएल से नफरत करते क्योंकि मिगुएल की
पुरानी मोटर गाड़ी अच्छी चालू हालत में थी
उसकी पुरानी मोटर गाड़ी की तुलना में
मिगुएल
मर गया मिलाग्रोस से नफरत करते क्योंकि
मिलाग्रोस के पास था
एक रंगीन टेलीविजन
और उसकी अपनी औकात नहीं थी खरीदनें की
मिलाग्रोस
मर गयी ओल्गा से नफरत करते क्योंकि ओल्गा
उसी काम के लिए पाँच डॉलर ज्यादा बना लेती थी
ओल्गा
मर गयी मेनुअल से नफरत करते
क्योंकि मैनुएल

जुऐ में उससे अधिक बार जीता
जितनी बार वह जीती
मैनुएल मर गया उन सभी से नफरत करते हुए
जुआन
मेगुएल
मिलाग्रोस
और ओल्गा
क्योंकि वे सभी बोलते थे टूटी-फूटी अँग्रेजी
उससे कहीं धारा प्रवाह

और अब वे एक साथ हैं
शून्य के मुख्य दालान में
चुप्पी के आदी बने
हवा की सीमाओं से दूर
कीड़ों के प्रभुत्व में कैद
सुदूर टापू पर कब्रिस्तान में
यही है खाँचेदार परलोक
जिसके बारे में प्रोटेस्टेन्ट दान पात्र
चर्चा करते थे इतने जोर-शोर से अहंकार पूर्वक

यहाँ लेटा है जुआन
यहाँ लेटा है मिगुएल
यहाँ लेटी है मिलाग्रोस
यहाँ लेटी है ओल्गा
यहाँ लेटा है मैनुएल
जो मर गये कल आज और फिर मरेंगे कल
हमेशा तबाह हमेशा कर्ज में
बिना कभी जाने
कि वे सुन्दर लोग हैं
बिना कभी जाने
अपने रूप रंग का भूगोल
प्यूएत्रो रिको एक खूबसूरत जगह है
प्यूएत्रो रिको निवासी सुन्दर नस्ल हैं
यदि वे केवल
टेलीविजन बन्द कर देते
और अपनी कल्पनाओं में डूबते उतराते
यदि वे केवल
इस्तेमाल करते गोरे वर्चस्व के बाइबिल का
टायलेट पेपर की जगह
और अपनी लातिनी आत्मा को बनाते
एक मात्र धर्म अपनी नस्ल का
यदि वे केवल
लौट गये होते सूरज की परिभाषा की ओर
अपनी अनुभूतियों के ग्रीष्मकाल में आये
पहले मानसिक बर्फीले तूफान के बाद
यदि वे केवल
अपनी आँखों को खुला रखते
अपने सहकर्मियों की शव यात्रा पर
जो आये थे इस देश में अपनी किस्मत संवारने
और दफनाये गये बिना अंतः वस्त्रों के

जुआन
मिगुएल
मिलाग्रोस
ओल्गा
मेनुएल
अब किया करेंगे खुद अपने काम
जहाँ सुन्दर लोग गाते
और नाचते और काम करते हैं एक साथ
जहाँ हवा अन्जान है
मौसम की अभागी दशाओं से
जहाँ शब्दकोश की जरूरत नहीं होती
अपने लोगों के साथ संवाद बनाने के लिए
यहाँ स्पेनी बोली जाती है हर समय
यहाँ सबसे पहले अपने झण्डे को सलाम करो
यहाँ डायल साबुन के विज्ञापन नहीं हैं
यहाँ सब लोग सुगंधित हैं
यहाँ टीवी पर दिखने वाली दावतें कोई नेमत नहीं हैं
यहाँ औरत और मर्द अनुरागी हैं अपनी अभिलाषा के
और कभी ऊबते नहीं एक दूसरे से
यहाँ कुछ हुआ का अर्थ है क्या हो रहा है
यहाँ नीग्रो के नाम से बुलाने का मतलब है
प्यार कहकर बुलाना।

**(मंथली रिव्यू के जून, 2004 अंक से साभार अँग्रेजी से अनुवाद : दिगम्बर)**

❑

# ह्यूगो शावेज के लिए एक कविता

**–माइकेल डी मोरिस्से**

**(20 सितम्बर 2006 को शावेज ने अपना मशहूर कराकास भाषण दिया था और उसके अगले ही दिन अमरीकी कवि माइकेल डी मोरिस्से ने उस भाषण की प्रशंसा में अन्तरराष्ट्रवाद से ओतप्रोत यह कविता लिखी थी।)**

तुम्हारे शब्द ढाढस बँधाते हैं क्षतिग्रस्त राष्ट्र को
तुम्हारे ही नहीं, बल्कि मेरे लँगड़ाते दिग्गज राष्ट्र को भी
जिसकी आत्मा लहूलुहान कर दी है अपने ही नेताओं ने,
उन्हीं लोगों ने जिन्हें तुम कहते हो
साम्राज्यवादी और शैतान, हत्यारे, उत्पीड़क।
हमें भी पता है यह।
लेकिन इसे तुम्हारे मुँह से सुनना जरूरी है
क्योंकि हम जानते हैं तुम हमारे मित्र हो।
तुम हमें भाई कहते हो, और हमें तुम पर भरोसा है।
तुम हमें याद दिलाते हो दस्तावेजी सबूत के साथ,
सीआईए के अपराधों की
जिन्हें अंजाम दिया गया न सिर्फ तुम्हारे देश के खिलाफ,
बल्कि कई दूसरे देशों और खुद हमारे अपने ही देश के खिलाफ।
तुम जानते हो कि 9/11 और उसके बाद जो कुछ हुआ
उन सब के पीछे शैतान बुशको था,
और तुम्हें कोई भय नहीं इसे बताने में।
यॉमस्की नहीं जा सके इस हद तक,
लेकिन डेविड ग्रिफिन गये
और सहमत हैं तुमसे शैतान के विषय में।
हमने भी यही किया।
हम जनता के लोग जो गर्क हो रहे हैं
बीते युग के जर्मनी जैसे फासीवाद में,
जिन्होंने इतिहास से कोई सबक नहीं लिया,
गूँगे, बहरे और अंधे हो गये 9/11 से नहीं
बल्कि टेलीविजन और न्यू यार्क टाइम्स के धमाकों से
जो वर्षों पहले शैतान के हाथों बिक चुके थे।
अब तुम आये, ह्यूगो शावेज, कहते हुए वह सब जो
टाइम्स नहीं छापेगा,
लेकिन हमारे दिल धधक रहे थे कहने को
संयुक्त राष्ट्र की आम सभा से पहले ही।
धन्यवाद दे रहे हैं तुम्हें इतने तुच्छ रूप में,
इस उम्मीद के साथ कि कल ये छोटी-छोटी आवाजें
गूँजेंगी समवेत सुर में
जैसे आज तुम्हारे देश में, और बोलीविया में
और एक दिन हमारे यहाँ भी होगा
असली चुनाव फिर से
और हम चुनेंगे तुम्हारे जैसे लोग जो सच बोलेंगे
और वैसा ही करेंगे वे जो हम चाहते हैं
न कि जैसा वे करना चाहते है,
हमें गुलाम बनाने के लिए,
हमारी जान लेने कंगाल बनाने और लूटने के लिए,
और हद तो यह कि हमें पता भी नहीं इन जुल्मों का,
इस खाम-खयाली में कि आजाद हैं हम,
"दुनिया का सबसे महान देश।"
पूरे इतिहास में क्या इससे ज्यादा
घृणास्पद राजसत्ता रही है कोई?
"और वे सोचते थे कि आजाद हैं वे!"
यही दर्ज होगा हमारी कब्र के पत्थर पर
तिरस्कर्ताओं के उप-राष्ट्रपति के हस्ताक्षर से,
अगर हम जागते नहीं, मेरे भाई,
और हँसते नहीं तुम्हारी तरह
भाईचारे और न्याय की हँसी।
सलाम,
अमरीकियों के दोस्त, ह्यूगो।

**(काउन्टरपंच डॉट कॉम से साभार)** ❑

# विकास के फंदे में खेती और किसान

**--महेश त्यागी**

बागपत जिला उत्तर प्रदेश में गन्ना उत्पादन में पहले और गेहूँ उत्पादन में दूसरे स्थान पर है। लेकिन सिक्के का दूसरा पहलू यह है की यहाँ हर तीसरा परिवार भूमिहीन है। राजस्व विभाग के अनुसार बागपत जिले में 44,061 परिवारों के पास खेती की जमीन नहीं है और 60 हजार किसानों के पास आधे एकड़ से भी कम जमीन है। इसी का नतीजा है की इस क्षेत्र के 50 हजार से ज्यादा नौजवान रोजगार की तलाश में गाँव छोड़ने को मजबूर हैं। इस कृषि प्रधान देश की हालत भी कमोबेश यही है।

'विकास' की दौड़ में शामिल हमारे देश के हुक्मरानों ने किसानों को हाशिये पर फेंक दिया है। किसानों से अनाज और चीनी खरीदने के बजाय सरकार इन्हें विदेशों से आयात करती है। किसान अपना माल बहुत कम कीमत पर बेचने को मजबूर है। रंगराजन समिति ने सरकार से चीनी मिलों को 988 करोड़ रुपये छूट देने की सिफारिश की है। 944 चीनी मीलों पर किसानों के 4500 करोड़ बकाया रुपये हैं लेकिन इस समिति ने उनका बकाया दिलाने की कोई गंभीर कोशिश नहीं की। देश के कई हिस्सों में विशेष आर्थिक क्षेत्र (सेज) बनाने के लिए किसानों की जमीने छिनी जा रही हैं। इस भूमि अधिग्रहण के खिलाफ नंदीग्राम, सिंगुर, दादरी, टप्पल और घोड़ी-बछेड़ा में किसानों ने जबरदस्त संघर्ष किया और कई इलाकों में यह आज भी जारी है, जहाँ सरकार आन्दोलनकारी किसानों का बर्बर दमन कर रही है। भूमि अधिग्रहण के कारण एक ओर किसान अपनी जगह-जमीन से उजड़ रहे हैं, तो दूसरी ओर खेती लायक भूमि पर उद्योग-धंधे लगाने और अमीरों के बस्तियाँ बसाने से खेती का रकबा घटता जा रहा है।

उत्तर प्रदेश देश का 13वाँ ऐसा राज्य है जिसने ठेका खेती को मंजूरी दे दी। यह किसानों के खिलाफ देशी-विदेशी कंपनियों के पक्ष में उठाया गया कदम है। आन्ध्र प्रदेश ठेका खेती का कड़वा स्वाद चखने वाला पहला राज्य था, जहाँ किसानों ने विदेशी कंपनियों के साथ खीरा उगाने और बेचने का करार किया था। किसानों ने इसके लिए प्रति एकड़ 30 से 40 हजार रुपये खर्च किये, जबकि फसल आने पर कंपनियों ने विश्व बाजार में खीरे के दाम गिरने का हवाला देकर उनसे फसल खरीदने से इनकार कर दिया। इन किसानों ने नकद फसल उगाने के लिए बैंकों और निजी साहूकारों से कर्ज लिया था। फसल का वाजिब दाम न मिलने के कारण हजारों किसान कर्ज के जाल में फँस गए। किसानों की बर्बादी का आलम यह है की सरकारी नीतियों और पूँजीपतियों की लूट के चलते बर्बाद हुए किसानों में से 3.5 लाख किसान आत्महत्या कर चुके हैं।

कर्ज माफी के नाम पर किसानों को मिलने वाली सरकारी सहायता भी भ्रष्टाचार की भेंट चढ़ जाती है। महँगी बिजली और पानी, मोंसेंटो और कारगिल जैसी विदेशी कम्पनी के एकाधिकार के चलते महँगे बीज और वायदा कारोबार के चलते फसल का बाजिब दाम न मिल पाना, किसानों की बर्बादी का सबब बन चुके हैं। इतना ही क्या कम था कि बुन्देलखण्ड और महाराष्ट्र के इलाकों में सूखे ने किसानों को जमीन से ही उजाड़ना शुरू कर दिया है। दरअसल यह सूख भी प्राकृतिक नहीं, बल्कि सरकार की नीतियों का ही परिणाम है।

अपनी सीमित जरूरतों और तात्कालिक स्वार्थों के अनुरूप तथा मुट्ठी भर धनी किसानों और फार्मरों को केन्द्र में रखते हुए खेती का पूँजीवादी विकास करने के लिए हमारे देश में हरित क्रान्ति की शुरूआत की गयी थी। इसमें उन्नत बीज, नयी तकनीक, रासायनिक खाद और कीटनाशक के इस्तेमाल पर जोर दिया गया। किसानों के हित में न्यूनतम समर्थन मूल्य, सरकारी खरीद, सहकारित को बढ़ावा, कृषि उत्पादों के आयात पर रोक और लागत पर सब्सीडी जैसी योजनाएँ चलायी गयीं। सीमित क्षेत्रों और गिनी-चुनी फसलों के लिए चलायी गयी हरित क्रान्ति की योजनाओं ने देश को तात्कालिक तौर पर खाद्यान्न उत्पादन में आत्म निर्भर बना दिया। इससे मालिक किसानों के जीवन में भी खुशहाली आयी। लेकिन कुछ सालों बाद हरित क्रान्ति की कमियाँ सामने आने लगी। इससे पंजाब, हरियाणा, पश्चिमी उत्तर प्रदेश, महाराष्ट्र और हरित क्रान्ति के दूसरे इलाकों में जल के अधिक दोहन के चलते भूजल स्तर नीचे चला गया और खेतबंजर होने लगे। रासायनिक उर्वरकों और कीटनाशकों के बेहिसाब इस्तेमाल से

जल, जमीन और हवा में जहर घुल गया। खेती बाजार के हवाले कर दी गयी। ग्रामीण क्षेत्रों में औद्योगिक माल का एक बाजार निर्मित हुआ। पूँजीपति किसानों का जमकर शोषण करने लगे। लेकिन इसका आधार बहुत सीमित रहा। मुट्ठीभर पूँजीपतियों और कुछ धनी किसानों की सम्पन्नता के अलावा हरित क्रान्ति पूरे देश के समग्र विकास की प्रेरक नहीं बन सकी।

1980 तक आते-आते देश की अर्थव्यवस्था ठहराव की शिकार हो गयी। लेकिन सरकार ने इस ठहराव को तोड़ने के नाम पर और भी खतरनाक रास्ता अपनाया। 1991 में नयी आर्थिक नीति लागू की गयी। आगे चलकर 1995 में विश्व व्यापार संगठन की स्थापना और देश के हुक्मरानों द्वारा डंकल प्रस्ताव की मंजूरी ने खेती, खेतिहर आबादी को नयी गुलामी की ओर धकेल दिया। विश्व बैंक और अन्तराष्ट्रीय मुद्रा कोष के दबाव में खेती पर मिलने वाली सब्सिडी को धीरे-धीरे करके खत्म कर दिया गया। कारगिल और मोंसेन्टो जैसी बीज कम्पनियों को देश के अन्दर लूट की खुली छूट दे दी गयी। कृषि अनुसंधान केन्द्र, उर्वरक और कीटनाशक दवाओं के कारखानों तथा बिजली, पानी की आपूर्ति को देशी-विदेशी पूँजीपतियों के हवाले कर दिया गया। देश के कृषि वैज्ञानिक अपने देश की जरूरतों के लिए नहीं, बल्कि विदेशी कम्पनियों के मुनाफे के लिए शोध करने लगे। सरकारें किसान विरोधी हो गयीं। अमीरों को मिलने वाली सब्सिडी की रकम बढ़ा दी गयी, जबकि किसानों को दी जाने वाली सब्सिड़ी और कर्ज की ब्याज़ दर में छूट घटा दी गयी। किसान अपनी जरूरतों के अनुरूप अनाज की खेती करने के बजाय विदेशी निर्यात के लिए पिपरमेन्ट, सफेद मूसली, जैट्रोफा और फूलों की खेती करने लगे। ऐसी फसलों के बर्बाद हो जाने या विश्व बाजार में न बिक पाने की स्थिति में भूखों मरने की नौबत आ गयी, क्योंकि सफेद मूसली, जैट्रोफा और फूल खाकर किसान जिन्दा नहीं रह सकते।

अर्थव्यवस्था का आधार मानी जाने वाली खेती, निजीकरण-उदारीकरण और वैश्वीकरण के प्रभाव में आज बुरी तरह उपेक्षित है। यही कारण है कि देश के सकल घरेलू उत्पाद में खेती का योगदान लगातार गिरता जा रहा है। आज हरित क्रान्ति का सिरमौर, पंजाब सहित देश के कई हिस्सों के गाँव बर्बादी के कगार पर हैं। पंजाब के कई किसान अपनी ही बिक चुकी जमीन पर मजदूरी करके जीविका चला रहें हैं। पीढ़ी-दर-पीढ़ी जमीन बँटते जाने से नयी पीढ़ी के परिवारों के पास जमीन का बहुत छोटा रकबा बच गया है। छोटी जोत पर अधिक लागत और कम मुनाफे वाली खेती के कारण अधिकांश किसानों के लिए खेती घाटे का सौदा है। पश्चिमी उत्तर प्रदेश में भी जल स्तर तेजी से गिरने लगा है, जिसकी वजह से जल संकट की स्थिति पैदा हो रही है। पहले जहाँ 20 फीट पर ट्यूबवेल चलता था, वहाँ 200 फीट तक सबमरसिबुल डालना पड़ रहा है।

आजादी के बाद से ही उद्योगपतियों और कुछ बड़े भूस्वामी फार्मरों के हित में विकास के जिस विकृत मार्ग को अपनाया गया उसके कारण खेती का चहुँमुखी और चिरस्थायी विकास सम्भव ही नहीं था। संकट को हल करने के नाम पर 1991 में अपनायी गयी नयी आर्थिक नीति ने रही सही कसर भी पूरी कर दी। किसानों की खुशहाली को तिलंजली देते हुए खेती को देशी-विदेशी पूँजी के निर्मम लूट-खसोट का साधन बना दिया गया।

आखिर कब तक किसान अपनी बर्बादी का नजारा देखते रहेंगे। इन हालात का अन्धा तमाशबीन बनने के बाजाय उसे बदलने के लिए आगे आना होगा। ❑

**हम सभी पुराने सहपाठी वाइडनर पुस्तकालय की सीढ़ियों पर एक साथ फोटो खिंचवाने का इन्तजार कर रहे थे। मैंने बगल में बैठे अपने एक सहपाठी को दूसरे से कहते हुए सुना--**

**''तुमसे मिलकर अच्छा लगा, जॉय। इन पचास वर्षों के दौरान तुमने क्या-क्या किया?''**

**''अगर एक वाक्य में कहूँ तो मैं खुद को मुसीबतों से बचाने की कोशिश करता रहा'', जॉय ने कहा।**

**मैं अपने बारे में सोचने से खुद को रोक नहीं पाया, ''निश्चय ही मेरे जीवन की कहानी ऐसी नहीं है। मैंने पिछले पचास वर्ष मुसीबतें मोल लेने में लगा दिये।''**

**यह फर्क दरअसल इस कारण है कि हमारे उद्देश्य में फर्क रहा है। मैंने अपना जीवन इस दुनिया को बदलने की कोशिश करते बिताया, जबकि सेवानिवृत नौसेना अधिकारी जॉय ने अपना जीवन यथास्थिति की पहरेदारी करने में खपाया।''**

**(विलियम हिण्टन द्वारा 5 जून 1991 को हावर्ड विश्वविद्यालय में दिये गये व्याख्यान का अंश।)**

# काले धन को सफेद बनाने में लिप्त निजी बैंक

1996 में अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष ने अनुमान लगाया था कि दुनियाभर की अर्थव्यवस्था में 2 से 5 प्रतिशत गैरकानूनी तरीकों से वैध बनाया गया काला धन शामिल है। भारत के लगभग 75,00,000 करोड़ रुपये स्विस बैंक में जमा है। यह राशि भारत के सकल घरेलू उत्पाद (एक साल के दौरान पैदा हुई कुल सम्पत्ति) का डेढ़ गुना है।

कोबरा पोस्ट द्वारा किये गये हालिया स्टिंग आपरेशन ने इस बहुप्रचलित भ्रम को तोड़ दिया है कि भारत का काला धन केवल विदेशी बैंकों में जमा है तथा काले धन का आवागमन बैंकिंग और वित्तीय ढाँचे से बाहर, हवाला कारोबार के तहत दलालों के एक नेटवर्क के माध्यम से ही होता है। देश के तीन प्रमुख निजी बैंकों पर हुए स्टिंग आपरेशन के दौरान यह खुलासा हुआ है कि तमाम पाबंदियों और कायदे-कानूनों के बावजूद भारतीय बैंक ही काले धन को वैध बनाने में लिप्त हैं। इस भंडाफोड़ को लेकर भारतीय रिजर्व बैंक और केन्द्र सरकार की प्रतिक्रिया को देखते हुए ऐसा नहीं लगता कि वे इस मामले को लेकर गंभीर हैं।

यह स्टिंग आपरेशन निजीकरण के दौर में तेजी से फलने-फूलने वाले तीन बड़े निजी बैंकों-- आईसीआईसीआई, एचडीएफसी और एक्सिस बैंक पर किया गया था। इसमें इन बैंकों के कर्मचारी ग्राहकों को नियम-कानूनों से बचने के तरीके बताते हुए पाये गये। हैरत की बात यह कि इसके लिये आपको कोई नामी शख्सियत होना जरूरी नहीं है। कोई भी इन बैंकों की शाखाओं में जाकर ये सेवायें हासिल कर सकता है।

कुछ महीने पहले अरविन्द केजरीवाल ने एक प्रेस सम्मेलन में एचएसबीसी बैंक के खिलाफ आरोप लगाते हुए कहा था कि "अपने बेहिसाब धन को स्विस बैंक में जमा कराने के लिये अब आपको दुबई या जेनेवा जाने की भी जरूरत नहीं है-- कोई आपके घर आयेगा और वहीं से पैसा संग्रह कर लेगा और उसके बराबर मूल्य का यूरो या डॉलर आपके स्विस बैंक खाते में जमा हो जायेगा।" उन्होंने बताया था कि इसी तरीके से अंबानी बधुओं और दूसरे कई लोगों का पैसा सीधे स्विस बैंकों में जमा किया जा रहा है।

कोबरा पोस्ट के सह-संपादक सैय्यद मसरूर हसन, राजीव शर्मा के कल्पित नाम से, देश के कुछ बड़े शहरों में स्थित इन बैंकों की कई शाखाओं में गये। उन्होंने किसी काल्पनिक नेता के आदमी के रूप में अपना परिचय दिया और बताया कि वे अपने काले धन को सफेद बनाना चाहते हैं। इस पूरी कार्यवाही की शुरुआत करने के लिये मसरूर ने सिर्फ बैंक में फोन करके जानना चाहा कि इस मामले में बैंक उनकी क्या मदद कर सकता है। बैंक के अधिकारी उनका स्वागत करने के लिये तत्पर हो गये। किसी भी शाखा में उन्हें निराशा हाथ नहीं लगी। कहीं से भी उन्हें खाली हाथ वापस नहीं लौटाया गया। लगभग हर बैंकर उस काल्पनिक नेता के काले धन को वैध बनाने में मदद करने का इच्छुक था, जिसके लिये कथित तौर पर मसरूर काम कर रहे थे। यहाँ तक कि ऊपर के मैनेजमेंट के साथ भी इस बारे में विचार-विमर्श किया गया।

तब सवाल ये है कि बैंक काले धन को सफेद बनाते कैसे हैं?

बैंकों में लेन-देन करने और खाता खोलने के लिये कई दस्तावेज जमा कराने होते हैं, लेकिन बैंकिंग नियमों के अनुसार एक काम के लिये कई अलग-अलग दस्तावेजों में से कोई एक (उदाहरण के लिये, पहचान पत्र के तौर पर पैन कार्ड, पासपोर्ट या आधार कार्ड में से कोई एक) दस्तावेज जमा किया जा सकता है। कोबरा पोस्ट द्वारा हासिल किये गये विडियो सबूत से जाहिर होता है कि कई मामलों में बैंक कर्मचारियों ने ग्राहकों को अपना पैन कार्ड न जमा करने की सलाह दी, ताकि वे टैक्स के दायरे से बाहर रहें और आयकर विभाग को उनके धन की जानकारी हासिल न हो सके। आवास प्रमाणपत्र की जगह कम्पनी से हासिल किया गया लेटर दिया जा सकता है या मकान के किराये का इकरारनामा। चूँकि समय-समय पर इसके सत्यापन की जिम्मेदारी बैंक कर्मचारियों की ही होती है, इसलिये खास मामलों में इसकी अनदेखी करना सम्भव है। और अगर सत्यापन जरूरी ही हो जाय तो इन खातों को बंद कर पैसा किसी दूसरे खाते में हस्तान्तरित किया जा सकता है।

बैंक कर्मचारियों ने उन्हें कई ऐसे खातों में निवेश करने की सलाह दी जिनके भुगतान की अवधि 7 साल से ज्यादा हो, क्योंकि बैंकिंग नियमों के अनुसार बैंकों के लिये 7 साल से ज्यादा पुराने रिकार्ड सुरक्षित रखने की बाध्यता नहीं है। नकदी की बड़ी रकम बीमा उत्पादों और सोने में निवेश करने की सलाह दी गयी। साथ ही, उन्हें बेनामी खाते खोलने की भी सलाह दी गयी।

एचडीएफसी बैंक के अधिकारियों ने बैंक के कार्य-काल के बाद लाकर्स (जिनमें भारी मात्रा में नकदी रखी जा सकती है) का इस्तेमाल करने की सलाह दी जिससे उनकी पहचान गुप्त रहे। इससे भी एक कदम आगे बढ़कर, आईसीआईसीआई बैंक के कर्मचारी ग्राहकों के ऐसे सुविधाजनक खाते खोलने के लिये तैयार थे, जिनमें उन्हें एक किसान के बतौर या किसी ऐसे व्यवसाय से जुड़ा हुआ दिखाया जा सके, जिससे उन पर टैक्स की देनदारी न बने। एक्सिस बैंक ने तो हद ही कर दी, उसने "अनेकों" खातों में रकम जमा

करने की सलाह दी, जहाँ से दूसरे ग्राहकों की जानकारी के बिना उनके खातों का इस्तेमाल करके (निश्चय ही इसके एवज में उनसे कुछ फीस लेकर) पैसे को विदेश भेजा जा सकता था।

और भी कई अनूठे तरीके सुझाये गये। बैंक कर्मचारियों ने काले धन को सफेद बनाने के लिये जिस तरह के उपाय बताये इससे उनकी कल्पनाशीलता और दुस्साहस का पता चलता है। इन गैरकानूनी रचनात्मक कारसाजी का सीधा मतलब है कि ये कर्मचारी अपने बैंकों के बीमा और निवेश उत्पादों और अन्य सुविधाओं को बेचकर काले धन को सफेद बना देते हैं और सरकारी तंत्र असहाय रह जाता है।

ऐसा नहीं है कि बैंकों की ऐसी कारगुजारी का पहली बार फर्दाफाश हुआ है। 5 फरवरी को, आयकर विभाग ने मध्यप्रदेश और छत्तीसगढ़ में 13 जगहों पर दो आईएएस अधिकारियों के ठिकानों पर छापे मारे थे। इस कार्यवाही में आईसीआईसीआई बैंक की एक मैनेजर के यहाँ भी छापे मारे गये और यह पाया गया कि उन्होंने उक्त दोनों अधिकारियों के 10 करोड़ रुपये का काला धन सफेद करने में मदद की थी।

ये कारगुजारियाँ बैंकों की जमा-राशि और उनके द्वारा कमाये गये मुनाफे की वैधता पर गंभीर प्रश्नचिन्ह खड़ी करती हैं। बैंकों द्वारा इस तरह नियम-कायदों की खामियों का फायदा उठाने या उन्हें ताक पर रखने का मतलब है -नशीली दवाओं, अवैध हथियारों, आतंकवाद, भ्रष्टाचार और लूट-खसोट से हासिल किये गये धन को वैध बनाना और उसे वित्तीय तंत्र में शामिल करना।

कोबरा पोस्ट के इन खुलासों के बाद, इन निजी बैंकों पर रिजर्व बैंक की तरफ से कोई गम्भीर कार्रवाई नहीं की गयी। हमेशा की तरह इन संगीन मामलों को गम्भीरता से न लेने वाली प्रतिक्रियाएँ ही देखने को मिलीं। तीनों निजी बैंकों ने अपने-अपने स्तर पर आंतरिक जाँच का आश्वासन दिया। आईसीआईसीआई बैंक ने स्टिंग आपरेशन में पकड़े गये अपने निचले स्तर के 18 कर्मचारियों को निलंबित कर दिया।

रिजर्व बैंक, जिसकी जिम्मेदारी बनती है कि वह इन बैंकों पर कार्रवाई करे, उसके डिप्टी गर्वनर के सी चक्रवर्ती ने मामले की गम्भीरता को धूमिल करते हुए कहा कि "अगर हमें ऐसा महसूस होता है कि नियमों को सख्त किये जाने की जरूरत है, तो हम ऐसा करेंगे।"

काले धन को वैध बनाने की कार्रवाई में लगे इन बैंकों की हकीकत सामने आने के बाद रिजर्व बैंक और सरकार को चाहिए था कि वे भारत की बैंकिंग व्यवस्था को चुस्त-दुरुस्त करें। लेकिन एक सप्ताह बाद ही रिजर्व बैंक ने घोषणा कर दी कि सब कुछ ठीक-ठाक है। डिप्टी गर्वनर के सी चक्रवर्ती के अनुसार "आरोपों का मतलब नियमों का उल्लंघन नहीं है। ये सभी लेन-देन से जुड़े हुए मुद्दे हैं और इनमें काले धन को सफेद करने जैसा कुछ भी नहीं है।"

जाहिर है कि सरकार काले धन की अर्थव्यवस्था पर लगाम कसने और अपने बैंकिंग तंत्र में सुधार को लेकर गंभीर नहीं है। ऐसा एक भी मजबूत कदम नहीं उठाया गया है जिससे इस बात की गारण्टी हो कि काले धन को सफेद बनाने की यह व्यवस्था भविष्य में भी जारी नहीं रहेगी। वित्तीय पूँजी के वर्चश्व वाले नवउदारवादी अर्थतंत्र में इसकी गुंजाइश भी कम ही है।

❑

# पाठकों से अपील

❑ 'देश-विदेश' अंक 16 आपके हाथ में है। हमारा प्रयास है कि इसे अनियतकालीन पत्रिका की जगह हर तीन माह पर नियमित प्रकाशित किया जाये।

❑ जिन साथियों को पत्रिका निरन्तर डाक से भेजी जा रही है, वे कृपया सूचित करें कि उन्हें पत्रिका मिल रही है या नहीं और उन्हें आगे से भेजी जाय या नहीं।

❑ देश-विदेश अव्यवसायिक पत्रिका है। यह साथियों के श्रम और सहयोग से ही प्रकाशित होती है। आर्थिक संकट से जूझते हुए अब तक हमने 16 अंक निकाले। पाठकों के सहयोग से ही यह सम्भव हो पाया।

❑ पत्रिका अभी भी अनियमित है, इसलिए नियमित चन्दे की दर तय करना सम्भव नहीं। डाक से मँगवाने के लिए 5 अंकों की सहयोग राशि 100 रुपये या आजीवन सदस्यता न्यूनतम 1000 रुपये निम्न लिखित बैंक खाते में अन्तरित करें। और इसकी सूचना एसएमएय या ई मेल से भेज दें।

नाम : उमारमण
SB A/c : 602201011009933
विजया बैंक, टिम्बर मार्केट
लोनी रोड़, शाहदरा, दिल्ली-32

**मनी ऑर्डर भेजने का पता है-**

पारिजात
मकान नम्बर 116 A/3, गली नम्बर -3
विश्वकर्मा गली, जगतपुरी
मण्डोली रोड, शाहदरा
दिल्ली- 110093

❑ पत्रिका के नये पाठक बनाने और इसके प्रचार-प्रसार में आपका सहयोग जरूरी है।

# राष्ट्रीय खाद्य (अ)सुरक्षा बिल

राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा बिल अब तक संसद में पारित नहीं हुआ है। हाल ही में केन्द्रीय मंत्रीमण्डल ने इसके मसविदे को स्वीकृति दी है, जिसका देश के कई गणमान्य बुद्धिजीवियों और सामाजिक कार्यकर्ताओं ने विरोध किया है।

देश-विदेश के पिछले अंकों में हम प्रस्तावित खाद्य सुरक्षा कानून और इसको लेकर हो रहे राजनीतिक दाँव-पेंच पर लेख और टिप्पणियाँ प्रकाशित करते रहे हैं। हम यहाँ केवल इस कानून के मसविदे को लेकर उठायी गयी आपत्तियों की ही चर्चा करेंगे।

केन्द्रीय मंत्रीमण्डल द्वारा पारित मसविदे के मुताबिक प्रस्तावित कानून देश भर में एक साथ लागू नहीं होगा। इसे अलग-अलग राज्यों में अलग-अलग समय पर लागू किया जायेगा। इससे साफ जाहिर होता है कि इसे लागू करने के लिए कोई समयसीमा तय नहीं की गयी है। यह सरकार की अपनी मर्जी पर है कि वह इसे जिस राज्य में चाहे लागू करे और जिसमें चाहे छोड़ दे। यह प्रावधान भारतीय राज्य के संघीय स्वरूप और संविधान के खिलाफ है। समयसीमा तय न होना सरकार के लिए अपनी जिम्मेदारियों से बचने का चोर दरवाजा है। प्रस्तावित कानून में किसानों के लिए खाद्य सुरक्षा की कोई गारण्टी नहीं है। कानून में उत्पादन बढ़ाने या न्यूनतम समर्थन मूल्य का भी कोई उल्लेख नहीं है।

प्रस्तावित कानून सार्वजनिक वितरण प्रणाली (पीडीएस) के जरिये महज 67 प्रतिशत जनता को ही सबसिडी युक्त अनाज उपलब्ध कराने की गारण्टी करता है। गरीबी रेखा के भ्रामक सिद्धान्त की आड़ लेकर बहुत बड़ी जनसंख्या को इससे बाहर ही रखा गया है। इसमें गरीबों के लिए चलायी गयी अन्त्योदय अन्न योजना के तहत केवल 2.5 करोड़ परिवारों, यानि केवल 10 प्रतिशत परिवारों को प्रतिमाह प्रति परिवार 35 किलो अनाज उपलब्ध करने का वादा किया गया है। शेष जनता को जन वितरण प्रणाली के तहत प्रतिमाह प्रतिव्यक्ति 5 किलो अनाज मिलेगा। भारतीय चिकित्सा अनुसंधान परिषद के मुताबिक किसी वयस्क व्यक्ति के लिए 14 किलो प्रतिमाह तथा किसी बच्चे के लिए 7 किलो प्रतिमाह अनाज की आवश्यकता होती है। सरकार खाद्य सुरक्षा की भला कैसी गारण्टी कर रही है जो 5 किलो अनाज देकर अपना पल्ला झाड़ रही है जो एक बच्चे के लिए आवश्यक अनाज से भी कम है।

खाद्य सुरक्षा की गारण्टी करने वाले कानून के इस मसविदे में दालों और तेल को जन वितरण में करके भोजन में न्यूनतम पोषक तत्वों को खाद्य सुरक्षा के दायरे से बाहर कर गया है। यह दीगर बात है कि मौजूदा खाद्य सुरक्षा कानून को जिस जन वितरण प्रणाली के माध्यम से लागू किये जाने की योजना है उसी जन वितरण प्रणाली को नेस्तनाबूद करने के लिए सरकार पहले ही कई अन्य योजनाएँ (जैसे सबसिडी की जगह सीधे पैसे देना) अमल में ला चुकी है, जो इस कमजोर और बेमन से बनाये जाने वाले कानून को बेअसर करने में सहायक होंगे।

मसविदे के मुताबिक केवल उन्हीं महिलाओं को मातृत्व योजनाओं का लाभ मिलेगा जिनके अधिकतम दो बच्चे हों। दो से अधिक बच्चों की माता को प्रसव के बाद की सुविधाएँ नहीं मिलेंगी। मसविदे में इस तरह की नियम व शर्तें प्रसवकालीन मृत्युदर की भयावह तस्वीर को देखते हुए महिलाओं के खिलाफ अपराधिक फैसला है।

आजादी के इतने सालों बाद भी देश की जनता को खाद्य सुरक्षा सुनिश्चित न किया जाना जिन्दा रहने के मूलभूत अधिकार का खुला मजाक है। चुनावी मौसम में अक्सर खाद्य सुरक्षा का मुद्दा उठाया जाता रहा है। असल बात यह है कि सरकार जनता के लिए खाद्य सुरक्षा के मद में खर्च करना नहीं चाहती। जो सरकार पूँजीपतियों और कॉरपोरेट घरानों की अय्याशियों को बरकरार रखने के लिए उन्हें कर आदि में लाखों-करोड़ों की छूट देती है तथा जनता का खून चूसती हो और सार्वजनिक खर्चों में निर्ममतापूर्वक कटौती करती हो, वह भोजन का अधिकार कभी दे ही नहीं सकती। कालाबाजारियों, सटोरियों, जमाखोरों और अनाज की सट्टेबाजी करने वालों की सरकार जनता को सस्ता अनाज देगी तो उसके आकाओं का व्यापार कैसे चलेगा और तिजोरी कैसे भर पायेगी?

❑

# मौत का सौदागर बनी दवा परीक्षण कम्पनियाँ

स्वास्थ्य मंत्री ने संसद को बताया था कि "दवा परीक्षण के लिए अनुमति देने और उन पर निगरानी रखने की प्रक्रिया को काफी सख्त किया गया है। लेकिन इसके बावजूद हम दवा परीक्षण से होने वाली मौतों को रोक नहीं पाये हैं। सरकार की सख्ती का विदेशी दवा कम्पनियों और उनके देशी दलालों पर कितना असर हुआ, इसे हम सरकारी आँकड़ों से ही समझा सकते हैं। 2010 में 668, 2011 में 438 और 2012 में 436 मरीज दवा परीक्षण के कारण मौत के मुँह में समा गये। पिछले 5 सालों में कुल 2,644 लोगों का मरना यह दर्शाता है कि दवा कम्पनियों के लिए हमारे देश की जनता की कीमत विलायती चूहों से अधिक नहीं है।

औषधि और प्रसाधन कानून-1945 में 2005 में किये गये संशोधन प्रस्ताव में परीक्षण के दौरान सबसे ज्यादा जोखिम उठाने वाले मरीजों के लिए मुआवजा और बीमा राशि बढ़ाने के बजाय, सरकार ने दवा कम्पनियों का ही ख्याल रखा। तभी तो दूसरे देशों की तुलना में भारत के पीड़ितों के मुआवजे और बीमा की राशि में जमीन आसमान का अंतर है। 2011 में जिस कम्पनी ने नाईजीरिया की एक स्त्री को दवा परीक्षण के मुआवजे के तौर पर लगभग 30 लाख रुपये मुआवजा दिये, उसी कम्पनी ने भारत में दवा परीक्षण के दौरान हुई मौत पर सिर्फ ढ़ाई लाख रुपये का मुआवजा दिया। इस तथ्य से हमारी सरकार और स्वास्थ्य विभाग का घिनौना चेहरा सामने आ जाता है। पिछले सात सालों में इन्हीं की मेहरबानी से विदेशी कम्पनियों ने दवा परीक्षण के दौरान मरने वाले हजारों रोगियों में से सिर्फ 40 मृतकों को औने-पौने मुआवजा देकर छुट्टी पा ली।

नयी दवाओं का परीक्षण सबसे ज्यादा जोखिम भरा होता है। इसीलिए इन दवाओं का परीक्षण सबसे पहले चूहों पर किया जाता है, इन्सानों पर नहीं। लेकिन हमारे देश में ऐसा नहीं है। दवा नियंत्रक कार्यालय के अनुसार भारत में दवा परीक्षण कानून लागू होने के बाद जून 2012 तक कुल 475 नये रासायनिक तत्वों से बनी दवाओं के परीक्षण की इजाजत दी गयी। इस काम के लिए 57,303 मरीजों को चुना गया, जिनमें 39,022 लोगों पर परीक्षण पूरा हो गया और अभी भी 18,281 लोगों पर परीक्षण चल रहा है। इन लोगों पर कुल 475 दवाओं का परीक्षण किया गया, जिनमें से सिर्फ 17 दवाओं को ही भारत के बाजार में उतारा गया। परीक्षणों के दौरान 2,644 लोगों को अपनी जान गवानी पड़ी, जिनमें 80 लोगों की मृत्यु दवाओं के नकारात्मक प्रभाव के चलते हुई। इसकी पुष्टि दवा कम्पनी और डाक्टरों ने भी की है। जन स्वास्थ्य पर काम करने वाले संगठनों द्वारा बाकी लोगों की मौत की जाँच की माँग की जा रही है। उनका कहना है कि अगर निष्पक्ष जाँच की जाय तो परीक्षण के दौरान होने वाली सभी मौतों का कारण दवाओं का नकारात्मक असर ही मिलेगा, जिसे दवा कम्पनी और डॉक्टरों द्वारा छिपाया जा रहा है।

घोषित रूप से 475 रासायनिक दवाओं के अलावा करीब 1,500 दूसरी दवाओं का परीक्षण भी वैध और अवैध तरीके से देश के तमाम अस्पतालों और संस्थानों में किया जा रहा है। मध्यप्रदेश के इन्दौर में अलग-अलग अस्पतालों में पाँच डाक्टरों ने 3,202 मरीजों को बताये बिना ही उन पर रासायनिक दवाओं का परीक्षण किया। इन्हीं परीक्षाणों के दौरान दवाओं के दुष्प्रभाव के चलते कुछ मरीजों को जान से हाथ धोना पड़ा। मौत के सौदे में भागीदारी करने वाले डॉक्टरों को इनाम के तौर पर इन दवा कम्पनियों ने तीन करोड़ 57 लाख रुपये उनके निजी खातों में जमा कराये। इन्हीं पाँच में से एक डॉक्टर चिकित्सकीय नैतिकता कमिटी के संयुक्त सचिव रह चुके हैं और एक विभागाध्यक्ष के पद पर तैनात रहे हैं। भोपाल मेमोरियल हॉस्पिटल एंड रिसर्च सेंटर की स्थापना गैस पीड़ितों के मुफ्त इलाज के लिए की गयी थी। वहाँ मुफ्त इलाज के बजाये इन पीड़ितों को मुफ्त में मौत मिल रही है। इन मौतों के एवज में डॉक्टरों की जेबें लगातार गरम की जा रही हैं। बहुराष्ट्रीय कम्पनियों ने 15 दवाओं का परीक्षण गैस पीड़ितों के ऊपर किया, जिनमें से सिर्फ तीन परीक्षणों के दौरान ही 13 मरीजों की मौत हो गयी। अभी तक अस्पताल, डॉक्टरों और दवा कम्पनियों के खिलाफ कोई कार्रवाई नहीं हुई है। उल्टे अस्पताल के अधिकारियों ने उन पीड़ितों का नाम बताने से मना कर दिया, जिन पर परीक्षण किया गया। बहाना यह बनाया कि इससे उनकी निजता (प्रतिष्ठा) का हनन होगा। सिर्फ दस दवा परिक्षण कराने के बदले अस्पताल को एक करोड से भी अधिक रुपये हासिल हुए।

इंदौर (मध्य प्रदेश) के महात्मा गाँधी चिकित्सा महाविद्यालय में शिशु रोग विशेषज्ञ ने करीब 2700 लड़कियों पर ह्यूमन

पेप्लिना वायरस की दवा का परिक्षण किया। विचित्र बात यह कि मध्यप्रदेश में इस बीमारी का कहीं कोई नामोनिशान नहीं। दवा परीक्षणों के लिए अलग-अलग जनजातियों और बीमारियों वाले इलाकों के निर्धारित मानकों को ध्यान में रखना जरूरी होता है। उसी के अनुरूप दवा परीक्षण किया जाता है। लेकिन देशी-विदेशी दवा कम्पनियाँ स्वास्थ्य विभाग के अधिकारियों के साथ मिलीभगत करके सभी कानूनों और मानकों की अवहेलना कर अपने हित साधने में लगी है।

इतनी बड़ी तादाद में मौतों के बाद भी स्वास्थ्य मंत्रालय मौन है और न्यायालय के आदेश के होते हुए भी स्वास्थ्य मंत्रालय और नर पिशाच दवा कम्पनियों के कान पर जूँ तक नहीं रेंग रही है। कुछ याचिकाओं की सुनवाई करते हुए सर्वोच्च न्यायालय ने 20 जनवरी 2013 को आदेश दिया कि कोई भी दवा परीक्षण स्वास्थ्य सचिवों की निगरानी में ही किया जाय और मरीजों को पहले ही अवगत करा दिया जाय कि उनके ऊपर जिस दवा का परीक्षण किया जा रहा है और उसके कारण उनके स्वास्थ्य पर क्या-क्या बुरा प्रभाव पड़ने की आशंका है। साथ ही, मरीज का स्वास्थ्य बीमा कराना भी अनिवार्य होगा। इस मसले पर सख्ती बरतते हुए सुप्रीम कोर्ट ने इन नियमों का उल्लंघन करने वालों के लिए पाँच से दस साल की कैद का भी प्रावधान किया है। लेकिन सर्वोच्च न्यायालय ने स्वास्थ्य विभाग के जिन सचिवों को गरीब मरीजों की देखरेख की जिम्मेदारी दी है, वे रक्षक ही हमारे भक्षक बन जायें, तो क्या होगा?

मरीजों के स्वास्थ्य और जीवन से बेपरवाह इन दवा कम्पनियों और स्वास्थ्य विभाग ने साँठ-गाँठ करके आज तक न जाने कितने लोगों को अपना शिकार बनाया होगा। कितने लोग इन दवा कम्पनियों के अवैध और अघोषित परीक्षण के कारण अपनी जान से हाथ धो बैठे होंगे। और कितने ही लोग स्वास्थ्य सम्बंधी समस्याओं से ग्रसित होकर कष्टपूर्ण जीवन जीने को मजबूर होंगे। ऐसे लोगों का हिसाब भला कौन रखता है?

इंसानों की जान से खेलने वाली इन दवा परिक्षण कम्पनियों का मुनाफा दिन-दुना, रात-चौगुना बढ़ रहा है। भारत में इनका कारोबार लगभग 25,000 करोड़ रुपये पहुँच गया है। इन सच्चाइयों को देखकर तो यही लगता है कि दवा परीक्षण का कारोबार एक वहशियाना व्यापार में तब्दील हो गया है।

बड़ा सवाल यह है कि जिन दवाओं का परीक्षण पहले जानवरों पर किया जाता है, वह भी हमारे देश में सीधे इंसानों पर क्यों और जिन दवाओं की कोई जरूरत हमारे देश में है ही नहीं, उन दवाओं का परीक्षण क्यों?

दरअसल मुनाफे पर आधारित मौजूदा लूटतंत्र में पैसा ही सब कुछ है। इसमें सभी पेशों, व्यवसायों और कर्तव्यों का फैसला मुनाफे से होता है। देशी-विदेशी कम्पनियों द्वारा दवा परीक्षण के नाम पर बिना बताये दवा के बदले जहर देकर धीमी मौत मारना क्या इरादतन हत्या नहीं है? क्या हम ऐसी ही ठंडी मौत मरते रहें? ❑

## छापते नहीं, छुपाते हैं

**एक बार नारद मुनि परानुग्रह की आकांक्षा से मर्त्यलोक के भ्रमण पर निकले। सुबह-सुबह जिसे देखा, हाथ में बड़े-बड़े कागज लिये अपना चेहरा उसमें छिपाये हुए है। पूछा- 'यह कौन सा पुराण है, वत्स?'**

**'महाराज यह अखबार है। कलयुग है, यहाँ पुराण-कुरान नहीं, अखबार ही सबसे पवित्र है।'**

**'इसमें किस प्रकार के वचन और सूक्त होते हैं?'**

**'आप ही जैसा काम अखबार वाले भी करते हैं, यहाँ की बात वहाँ। अंतर बस इतना है कि इनके स्वामीगण समझदार हैं, मितभाषी हैं, आपकी तरह वाचाल नहीं। ये जितना छापते नहीं, उससे ज्यादा छुपाते हैं।'**

**'स्वामीगण अपने भोजन-वस्त्राादि के लिये धन कहाँ से प्राप्त करते हैं? क्या इनकी बिक्री से धनार्जन करते हैं?'**

**'नहीं महाराज, अखबार तो शौकिया निकालते हैं, धनार्जन चीटफंडम, रियलइस्टेटम, शेयरबाजारम अथवा अन्य व्यवसायों से करते हैं।'**

**नारद जी का मष्तिष्क चक्कर खाने लगा। वे नारायण-नारायण कहते इस स्वानुभूत सत्य की मीमांसा करने और स्वर्गलोक में यह नया सन्देश पहुँचाने चल पड़े।** ❑

# पेटेंट की गिरफ्त में कैंसर की दवा

हाल ही में सर्वोच्च न्यायलय ने ग्लाइवेक नामक कैंसर की दवा बनाने वाली कम्पनी नोवार्टिस की पेटेंट याचिका खारिज कर दी। इस फैसले का महत्त्व इसी से समझा जा सकता है कि यदि नोवार्टिस यह मुकदमा जीत जाती तो इस दवा के उत्पादन पर एकाधिकार हो जाता। नोवार्टिस ने इस दवा की कीमत लगभग सवा लाख रुपये प्रतिमाह रखी है, जिसे खरीद पाना आम जनता तो क्या, ऊपरी और मध्यम वर्ग के लिए भी सम्भव नहीं। जबकि इसी फार्मूले की जेनेरिक दवा की मासिक खुराक महज 10,000 रुपये में मिलती है।

ऐसे ही एक अन्य मामले में पूरी दुनिया में सोराफेनिब नामक दवा बेचकर लगभग 678 मिलियन डॉलर का मुनाफा डकारने वाली कम्पनी बेयर कॉरपोरेशन के पेटेंट अधिकार को खत्म कर दिया गया। इसकी जगह भारत में इस दवाई का जेनेरिक उत्पादन और बिक्री का लाइसेंस नेटको फार्मा को दिया गया। गौरतलब है, कि इस कुख्यात कम्पनी ने पेटेंट कानून का फायदा उठाकर बौद्धिक सम्पदा कार्यालय में एक दूसरी कम्पनी सिपला के खिलाफ पेटेंट के उल्लंघन का मुकदमा दर्ज किया था, जो सोराफेनिब का जेनेरिक रूप बनाती थी और एक महीने की खुराक 30,000 रुपये में बेच रही थी। बेयर फार्मा इसी दवाई की एक महीने की खुराक की कीमत 2,80,000 रुपये वसूलती थी।

दरअसल ये विराट बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ पहले से मौजूद दवा में मामूली बदलाव करके उसका नाम बदलकर पेटेंट करवा लेती हैं और उसे अपने मनमाफिक दामों पर बेचती हैं। यहाँ तक कि ग्लाइवेक भी किसी नयी खोज का नतीजा नहीं है, बल्कि 15 वर्ष पहले बाजार में उतारी गयी एक दूसरी दवा का ही थोड़ा बदला हुआ रूप है।

इन फैसलों से बौखलाकर इन विदेशी कम्पनियों ने कहा है कि भारत में बौद्धिक सम्पदा का अच्छा वातावरण नहीं है, जबकि सच्चाई तो यह है कि जिस बौद्धिक सम्पदा को सुरक्षित रखने और नयी दवाईयों के फार्मूले इजाद करने का तर्क देकर ये कम्पनियाँ पेटेंट कानून की आड़ में बेहिसाब मुनाफे बटोरती हैं, उसी पेटेंट कानून की असलियत को ब्रिटिश मेडिकल जर्नल ने तार-तार किया है। अपनी एक रिपोर्ट में उक्त जर्नल का कहना है कि आज पूरे विश्व में नयी दवाओं के अविष्कार का संकट है, क्योंकि ये बड़ी-बड़ी कम्पनियाँ शोध करने के बजाय पहले से उपलब्ध दवाओं में हल्का-फुल्का फेरबदल करती हैं और वह भी क्लीनिकल पैमाने पर खरा नहीं उतरता है। किसी नयी दवा की खोज करने और बनाने में इन कम्पनियों का जितना धन खर्च होता है, उतना तो ये एक साल में केवल अमरीकी बाजारों में ही कमा लेती हैं।

बात साफ है कि इन पिशाच कम्पनियों की निगाह भारत पर टिकी हुई है, जो कुछ साल पहले तक विकासशील देशों में सस्ती दवा उपलब्ध कराने का केन्द्र रहा है। यूरोप में छाई मंदी से उबरने के लिये और बेतहाशा मुनाफा लूटने के लिये ये कम्पनियाँ भारत और तीसरी दुनिया के देशों के बाजारों पर अपनी गिद्ध दृष्टी जमाये हुऐ हैं। सुप्रीम कोर्ट के इस फैसले से कैंसर पीड़ितों को कुछ राहत मिली है, वहीं इसने मानवता विरोधी पेटेंट कानून को एक बार फिर कटघरे में खड़ा कर दिया है। अभी कितनी ही दवाएँ पेटेंट की गिरफ्त में हैं, जिसके चलते दुनिया में लाखों लोग ईलाज होते हुऐ भी इन कम्पनियों के मुनाफे की हवस का शिकार बनकर काल के गाल में समा जाते हैं।

पेटेन्ट के मूल में हजारों वर्षों में हासिल मानवता के अनुभवों और ज्ञान-विज्ञान की परम्परा को मानव समाज के हित में उपयोग किये जाने पर अंकुश लगाना है, ताकि निजी मुनाफा और लूट का कारोबार जारी रहे। भारत में डंकल प्रस्ताव को स्वीकारने और विश्व व्यापार संगठन के आगे घुटने टेकने के साथ ही पहले से चले आ रहे पेटेंट कानून में बदलाव किया गया। प्रक्रिया पेटेंट की जगह उत्पाद पेटेंट को कानूनी मान्यता देने का ही नतीजा है कि हमारे वैज्ञानिकों और शोध संस्थाओं को कोई नयी खोज किसी अन्य विधि से भी करने का अधिकार नहीं रहा। यह कानून पूरी तरह बहुराष्ट्रीय निगमों के हित में है। अब, जबकि नया पेटेंट कानून बना कर हमारे शासकों ने उन्हें पूरी तरह लूट की छूट दे दी, तब एक दो मामलों में कानूनी राहत मिलना भी हमें सुखद लगता है। सवाल तो यह है कि अगर हमारी सरकार ने साम्राज्यवाद के आगे आत्मसमर्पण नहीं करती तो हम दवाओं में शोध की दिशा में अब तक कितना आगे बढ़ गये होते। ❑

# प्रधानमंत्री बनने के लिए प्रचार

जैसे-जैसे चुनाव नजदीक आते जा रहे हैं, संसदीय राजनेताओं के घृणित कारनामे भी सामने आ रहे हैं। हाल ही में भारत यात्रा पर आये अमरीका के तीन गये-गुजरे रिपब्लिकन सीनेटर अमरीकी लॉबिंग कम्पनी एप्को वर्ल्डवाईड के कहने पर नरेंद्र मोदी से मिले थे। उन सीनेटरों को 16-16 हजार डॉलर का तोहफा दिया गया। बदले में उन्होंने मोदी से वादा किया कि वे उसे अमरीकी वीजा दिलाने की भरपूर कोशिश करेंगे। यह कोई अकेली और अपवाद घटना नहीं है। नरेंद्र मोदी ने प्रधानमंत्री बनने के लिए एप्को वर्ल्डवाईड को लगभग 12.5 लाख रुपये प्रतिमाह का ठेका दिया है। वास्तव में यह रकम तो मात्र दिखावे के लिए है। ओवरसीज फ्रेंड्स ऑफ बीजेपी समूह के माध्यम से इस कम्पनी को बेहिसाब धन दिया जा रहा है। यह कम्पनी अमरीका और भारत समेत पूरी दुनिया में मोदी की प्रधानमंत्री पद का उम्मीदवार के लिए लॉबिंग करेगी और जाहिर है कि इसके लिए उनके कुकर्मों पर पर्दा डालेगी और उनकी झूठी उपलब्धियों का प्रचार करेगी।

लॉबिंग का सीधा अर्थ है पैसा लेकर किसी के पक्ष में माहौल बनाना और समर्थन जुटाना। अमरीका में इस पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है। लेकिन भारत में यह धंधा गैरकानूनी है। भाजपा पहले भी इस नाजायज पेशे को कानूनी जामा पहनाने की वकालत कर चुकी है।

मोदी को देश का प्रधानमंत्री बनाने का ठेका लेने वाली इस अमरीकी कम्पनी की कारगुजारियों पर जरा एक सरसरी निगाह डालें। दुनियाभर के तानाशाहों के पक्ष में लॉबिंग करना एप्को कम्पनी का पसंदीदा काम रहा है। इसी से उसको सबसे ज्यादा आमदनी होती है। नाइजीरियाई तानाशाह सनी अवाचा और खुद को कजाकिस्तान का आजीवन राष्ट्रपति घोषित करने वाले नूर सुलतान अविशुली नजरबायेव इस कम्पनी के प्रमुख ग्राहक रहे हैं। यह कम्पनी दुनियाभर में हथियारों के विस्तार और अमरीकी फौजी धौंस की पैरोकार है। इस कम्पनी ने अफगानिस्तान और ईराक पर अमरीका के एकतरफा हमले के पक्ष में प्रचार किया। पूरे पश्चिमी जगत में इस्लाम के खिलाफ आक्रामकता और भय का माहौल तैयार करने में इस कम्पनी ने प्रमुख भूमिका निभायी। दुनिया के विभिन्न देशों में बहुराष्ट्रीय निगमों के पक्ष में कानूनों में फेरबदल करवाने में भी इस कम्पनी को विशेषज्ञता हासिल है। कहाँ तक गिनवाएँ, इस कम्पनी के काले कारनामों की फेहरिस्त बहुत लंबी है।

अमरीकी वीजा हासिल करने के लिए नरेंद्र मोदी जितना हाथ-पाँव मार रहे हैं, उतने तो हमारे देश के संतों ने मोक्ष हासिल करने के लिए भी नहीं किये होंगे। इसके लिए वे एक राजनेता, प्रदेश के एक मुख्यमंत्री और यहाँ तक कि एक सामान्य भारतीय नागरिक के किरदार को भी काग भगोड़े या बिजूखे में तब्दील कर चुके हैं। अभी तीन महीने भी नहीं गुजरे जब अमरीका के 25 सीनेटरों ने राज्य सचिव हिलेरी क्लिंटन से मोदी को वीजा न देने की अपील की थी। वीजा तो दूर, अमरीका ने मोदी की वीडियो वार्ता तक पर प्रतिबन्ध लगा दिया था। जब अमरीका में दाल नहीं गली, तो उन्होंने ब्रिटेन के विदेशी मामलों के मंत्री के सामने वीजा देने की गुहार लगायी। लेकिन उन्होंने भी मुँह फेर लिया। अब उन्होंने "स्पंदित गुजरात सम्मलेन" में आकर्षक शर्तों के साथ अमरीकी कम्पनियों को राज्य में करोड़ों डॉलर के निवेश का न्योता दिया है।

आखिर मोदी अमरीकी वीजा के लिए इतने बेताब क्यों हैं? दरअसल वे अच्छी तरह जानते हैं कि अमरीका ही दुनिया के तानाशाही का काबा-काशी-जरूशलम है। वहाँ का रहमो-करम हासिल किये बिना किसी तानाशाह की ताजपोशी सम्भव नहीं, चाहे इरान का शाह हो, फिलीपींस का मार्कोस हो, निकारागुआ का पिनोचे हो या क्यूबा का बातिस्ता। लेकिन इसी के साथ-साथ उन्हें यह भी ध्यान रखना चाहिए कि काम निकलने के बाद अमरीका अपनी कठपुतली के साथ क्या सलूक करता है। अरब जगत के तानाशाहों के ताजा उदाहरण भी सामने हैं। अमरीका के लिए यह कहावत बिलकुल सटीक है कि "काटे चाटे स्वान के दुई भाँति विपरीत"।

कुछ साल पहले अटल बिहारी वाजपयी ने कहा था कि "संसदीय प्रणाली एक स्वांग बन कर रह गयी है।" बहुत जल्दी ही उनके वारिस इतने आगे निकल गए कि उन्होंने अपने लबादे और मुखौटे उतार कर फेंक दिए। अब नाटक नहीं होगा जैसा है वैसा ही दिखेगा। खुला खेल फर्रूखाबादी। वे कम्पनियों को प्रधानमंत्री पद पाने के लिए ठेके दे रहे हैं। वे दिल्ली की कुर्सी पाने के लिए औघड़ की तरह अमरीकी पिशाचों से भेंट मुलाकात और शव साधना करने को लालायित हैं। ❑

# घोटाले का नया प्रसंग – इस बार हेलिकॉप्टर

घोटालों के अंतहीन सिलसिले में एक और कड़ी जुड़ गयी। इस बार उत्तम कोटि के हेलिकॉप्टरों की खरीद में घोटाला सुर्खियों में है। ये हेलिकॉप्टर इटली की हथियार कम्पनी फिन्मैकेनिका की सहयोगी भारतीय कम्पनी आगुस्ता वेस्टलैंड से खरीदे गये थे। 12 हेलिकॉप्टरों के लिए 3,546 करोड़ रुपये में सौदा तय हुआ। इस सौदे को अंजाम देने में 367 करोड़ रुपये की रिश्वत दी गयी। भारत में तो किसी को इस बात की भनक भी नहीं लगती, इसका भण्डाफोड़ इटली में हुआ। फिनमैकेनिका के प्रमुख जी ओरसी और औगुस्ता वेस्टलैंड के प्रमुख ब्रूनो स्पेग्नोलिनी को रिश्वत देने के आरोप में 12 फरवरी को इटली में गिरफ्तार कर लिया गया। इनके साथ-साथ हथियार सौदों के एक दलाल जी हैश्के भी सीखचों के पीछे पहुँच गया जो भारत के पूर्व वायुसेना प्रमुख एस पी त्यागी के परिचित था। इन गिरफ्तारियों के बाद ही यह मामला भारत में सुर्खियों में आया। हैश्के का कहना है कि वह पूर्व वायुसेना प्रमुख और उनके भाइयों से कई बार मिला है और उन्हें 1. 2 करोड़ यूरो नगद दिये हैं। रिश्वत का पूरा पैसा सॉफ्टवेअर कम्पनियों -इन्फोटेक और एप्रोमैत्रिक्स के माध्यम से मौरिशस के रास्ते भारत आया।

इस सौदे में दलाली की बात एक साल पहले सन 2012 में भी चर्चा में आयी थी। उस समय रक्षा मंत्रालय के वरिष्ठ संयुक्त सचिव ए के बल से मामले की जाँच करायी गयी थी। लेकिन तब उन्हें इस सौदे में कोई गड़बड़ नजर नहीं आयी थी और उन्होंने सौदे को क्लीन चिट दे दी थी। बाद में भी कई बार इस सौदे की जाँच की माँग उठती रही और सरकार उसे सिरे से खारिज करती रही। फरवरी में इटली में आरोपियों की गिरफ्तारी के बाद भी सरकार इस मामले में बेहयाई से टाल-मटोल करती रही। जब कम्पनी के प्रमुख और दलालों की फोन पर हुई बातचीत में खुलकर सामने आ गया कि वे किस दिन किससे मिले, क्या बातचीत हुई, किसको कितना पैसा दिया, किसके माध्यम से दिया, तब सरकार ने परम्परानुसार सीबीआई को जाँच का आदेश देकर अपने कर्तव्य की इतिश्री कर ली। सीबीआई क्या करती है और क्या करेगी, यह हम सभी जानते हैं।

हेलिकॉप्टरों की खरीद को लेकर सन 1999 में सहमति बनी थी। उस समय तय किया गया था कि हेलिकॉप्टर को 18,000 फीट की ऊँचाई तक उड़ना चाहिए। लेकिन औगस्ता हेलिकॉप्टर केवल 16,000 फीट की ऊँचाई तक ही उड़ सकता था। इस समस्या का समाधान तत्कालीन राष्ट्रीय सुरक्षा सलाहकार और प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपयी के कृपापात्र ब्रजेश मिश्रा ने निकाला। उन्होंने सीधा हस्तक्षेप करके उड़ान क्षमता को 18,000 फीट से घटाकर 15,000 फीट करा दिया, क्योंकि औगस्ता केवल 16,000 फीट तक ही उड़ सकता था। कुछ अखबार और दूसरे संचार माध्यम इस मामले को केवल त्यागी बंधुओं की भूमिका तक सीमित कर रहे हैं जबकि वे जंजीर की मात्र एक कड़ी हैं। एयर वाइस मार्शल कपिल काक के अनुसार "इस सौदे में वायु सेना प्रमुख, रक्षा मंत्रालय और प्रधानमंत्री कार्यालय, सब शामिल रहे हैं।"

सूर्य पूरब से उगता है, यह कथन जितना सत्य है उतना ही सत्य यह भी है कि हर रक्षा सौदे में भ्रष्टाचार होता है। दलाली रक्षा सौदों का दस्तूर बन चुकी है। सौदों की शुरुआत उच्च मानकों से शुरू होती है और सौदा पूरा होते-होते तमाम मानक ढीले हो जाते हैं। रक्षा खरीद को देश की सुरक्षा से जुड़ा मामला बताकर पारदर्शिता पर पर्दा डाल दिया जाता है और सवाल उठाने वालों के मुँह सी दिये जाते हैं। दलाली इतनी आम है कि जब ग्राहक माल खरीदने को तैयार है, विक्रेता बेचने को और दाम पर भी दोनों की सहमति है, फिर भी दलाली की लेनदेन होती है। अगर नकली माँग पैदा करानी हो, मानक बदलवाने हों या खरीद शर्तें बदलनी हों, तब तो कहना ही क्या! रक्षा सौदे में अक्सर दलाली की बात सामने आती है, जिनमें से कुछ की जाँच होती है। इससे इतना ही होता है कि खरीद प्रक्रिया में कुछ नयी औपचारिकताएँ जोड़ दी जाती हैं। प्रक्रिया ज्यादा जटिल होने से रिश्वत कुछ और लोगों के हिस्से में भी आ जाती है। भारत सरकार के पूर्व सचिव अमिताभ पाँडे का कहना है कि -"रक्षा खरीद के ढाँचे में भ्रष्टाचार गहराई तक धँसा है, पूरी व्यवस्था को बदले बगैर किसी छोटे परिवर्तन से इसमें कोई सुधार नहीं होगा।"

हथियार कम्पनियों का कहना है कि वे केवल सत्तारूढ़ पार्टी को ही नहीं, बल्कि विपक्षी पार्टी को भी रिश्वत देती हैं, क्योंकि पता नहीं सरकार कब बदल जाय। रक्षा मंत्री ए के एंटनी

ने कहा है कि "इस झंझटों से तभी मुक्ति मिल सकती है, जब हम बाहर से कोई खरीद ही न करें।" इसका सीधा अर्थ है कि रक्षा खरीद में भ्रष्टाचार को रोकना मुमकिन नहीं है। हथियार कम्पनियों की ताकत और प्रभाव का अंदाजा इसी से कर सकते हैं कि जब रक्षा मंत्री ने इस सौदे को रद्द करने की बात कही थी तो विदेश मंत्री सलमान खुर्शीद भड़क उठे थे और दोनों मंत्रियों के बीच वाक युद्ध छिड़ गया था।

सौदे में हुए 367 करोड़ के घोटाले से भी ज्यादा महत्त्वपूर्ण यह है कि 3,546 करोड़ के ये हेलिकॉप्टर आखिर खरीदे ही क्यों गये? ये दुनिया के सबसे महँगे और आलीशान हेलिकॉप्टर सामरिक उपयोग के लिए नहीं, बल्कि बड़े-बड़े नेताओं और मंत्रियों के सैर-सपाटे के लिए खरीदे गए हैं। औगस्टा कम्पनी ने पहले इन्हें अमरीका को बेचने की कोशिश की थी, लेकिन राष्ट्रपति बराक ओबामा ने यह कहकर खरीदने से मना कर दिया कि "हेलिकॉप्टर बहुत महँगे हैं। हम इन पर ज्यादा खर्च नहीं कर सकते।" पूर्व लेफ्टिनेंट जनरल पीसी कटोच का कहना है कि "हेलिकॉप्टरों की खरीद को लेकर कोई इमरजेंसी नहीं थी।"

ये हेलिकॉप्टर हमारे ईमानदार प्रधानमंत्री के सैर-सपाटे के लिए खरीदे गये जिन्होंने गोदामों में सड़ रहे अनाज को भूखी जनता में बाँटने की सुप्रीम कोर्ट की सलाह पर नाराजगी जाहिर की थी और जो दिन-रात देश पर कर्ज के बोझ का रोना रोते रहते हैं। क्या सरकार कर्ज लेकर घी पीने, की कहावत को चरितार्थ नहीं कर रही है? लेकिन उनकी अय्याशी की कीमत कर्ज के बोझ से दबकर आत्महत्या कर रहे किसान चुकाते हैं, होंडा और मारूती की फैक्ट्रियों से पीट-पीटकर निकाल दिये गये मजदूर चुकाते हैं, इसे रोटी-सब्जी न मिलने के कारण प्रसव के दौरान दम तोड़ देने वाली लाखों माताएँ चुकाती हैं, इसे सरकारी विकास के नाम पर उजाड़ दिए गये आदिवासी और दलित चुकाते हैं, इसे पेट भर रोटी न मिलने के चलते दम तोड़ देने वाले देश के लाखों नौनिहाल चुकाते हैं, इसे 20 रुपये रोज पर गुजारा करने वाले 80 करोड़ भारतीय चुकाते हैं।

अगर वे सभी लोग यह जान जायें कि कर्ज का बढ़ता बोझ किसके लिए सजा और किसके लिए मजा है और इसके लिए जिम्मेदार कौन है, तो क्या होगा भला? ❑

# बेरोजगारी का दंश

अंतरराष्ट्रीय श्रम संगठन की एक ताजा रिपोर्ट के अनुसार विश्वव्यापी आर्थिक संकट ने पहले से उपलब्ध रोजगार के अवसरों को काकी कम कर दिया है। संकट शुरू होने से पहले ही दुनियाभर में लगभग 20 करोड़ लोग बेरोजगार थे। 2012 के शुरू होते ही पूरी दुनिया में बेरोजगारी की समस्या भयंकर रूप में खड़ी हो गयी। उत्पादन ईकाइयाँ बंद होने के कारण 2 करोड़ 70 लाख मजदूरों को बेरोजगारी के दलदल में फेंक दिया गया। आने वाले दस वर्षों में इसमें से कम से कम 40 करोड़ नये बेरोजगार शामिल हो जायेंगे। रिपोर्ट के मुताबिक बेरोजगारी समाप्त करने के लिए इस बीच 60 करोड़ रोजगारों का सृजन करना होगा। आज 64 लाख नौजवान यह उम्मीद छोड़ चुके हैं, कि उन्हें अब कभी रोजगार मिलेगा। रोजगारशुदा लोगों को भी यह डर सताता रहता है कि जाने कब उन्हें नौकरी से निकाल दिया जायेगा।

भारत के बारे में रिपोर्ट कहती है कि रोजगार के अवसर बढ़ाने के बजाय पहले से कार्यरत-मजदूरों से काम के घंटे बढ़ाकर उत्पादन बढ़ाया गया और आर्थिक वृद्धि दर को ऊँचाई पर पहुँचाया गया। 1990 के दशक से ही यहाँ की सरकार ऊँची आर्थिक विकास दर का हल्ला मचा रही है, जबकि वास्तव में यह रोजगारविहीन वृद्धि दर है।

देश में कहीं रोजगार के कुछ अवसर बढ़े भी हैं तो-- असंगठित क्षेत्र में। लेकिन यहाँ न तो नियमित रोजगार है, न ही न्यूनतम मजदूरी की गारंटी और न ही काम के कोई निश्चित घण्टे। पूरा परिवार हाड़-तोड़ मेहनत कर किसी तरह अपना गुजर-बसर करने को मजबूर है।

महिला रोजगार की हालत तो और भी बदतर है। रिपोर्ट के अनुसार कुल श्रम शक्ति में महिला श्रम शक्ति की भागीदारी वर्ष 2004-05 में 49.4 फीसदी थी, जो 2009-10 में घटकर 37.8 फीसदी रह गयी। इसके अलावा महिला श्रमिक सस्ते दाम पर अपना श्रम बेचने को मजबूर हैं।

सरकार निर्यातोन्मुख अर्थव्यवस्था अपनाने का ढोल पीटती रहती है, लेकिन भारतीय व्यापार संघ ने अपने एक हालिया बयान में बताया कि निर्यात में कमी के चलते अप्रैल से फरवरी 2013 तक इस क्षेत्र में काम करने वाले करीब 10 लाख लोग बेरोजगार हो गये।

बेरोजगारी के ये आँकड़े सरकारी और गैर-सरकारी संगठनों की रिपोर्ट पर आधारित हैं। हकीकत में बेरोजगारी की समस्या इससे कहीं अधिक भयावह और त्रासद है।

विकास दर बढ़ाने के लिए जिस तरह अनुत्पादक और वित्तीय पूँजी को बढ़ावा दिया जा रहा है, रोजगार विहीन विकास उसी परजीवी पूँजीवाद का लक्षण है।

❑

# जननी सुरक्षा योजना की असलियत

हमारे देश में जब प्रसवकालीन मृत्यु दर शर्मनाक हद तक पहुँच गयी तो उसे नियंत्रित करने के लिए 2005 में जननी सुरक्षा योजना लागू की गयी। इसका उद्देश्य प्रसव के समय होने वाली मृत्यु से जच्चा-बच्चा को बचाना और प्रसव के बाद उनके स्वास्थ्य की देख-रेख करना था।

पिछले कुछ वर्षों में जननी सुरक्षा योजना के क्रियान्वयन को लेखक कई सर्वे किये गये। आँकड़े बताते हैं कि कई राज्यों में गर्भवती महिलायें और बच्चे सुरक्षित नहीं हैं।

आज भी भारत में एक लाख प्रसव पर 200 गर्भवती महिलाओं की मृत्यु हो जाती है। यूनिसेफ के आँकड़ों के मुताबिक हमारे देश में हर साल 15 लाख शिशुओं की अकाल मृत्यु होती है, जिनमें से 8 लाख बच्चे जन्म से 28 दिन के भीतर ही काल के गाल में समा जाते हैं। 42 प्रतिशत बच्चे गंभीर कुपोषण के शिकार हैं। इस योजना के कारण कुछ राज्यों में जच्चा-बच्चा की मृत्यु दर में कुछ कमी जरूर आयी, लेकिन फिर भी उन्हें कई अन्य बीमारियों की चपेट में आने से रोका नहीं गया। हर साल 5 साल से कम उम्र के 4 लाख बच्चे न्यूमोनिया से और 2 लाख से ज्यादा बच्चे डायरिया से मर जाते हैं। गरीबी और स्वास्थ्य सेवाओं की दुर्दशा इसके मुख्य कारण हैं। सरकारी स्वास्थ्य केन्द्रों की हालत जर्जर है। शौचालयों और आसपास के स्थानों की सफाई न होने के कारण कई भयंकर बीमारियाँ पनपती हैं, जिसका नुकसान केवल जच्चा-बच्चा को ही नहीं, बल्कि उनके परिजनों को भी उठाना पड़ता है।

जननी सुरक्षा योजना के अंतर्गत, गर्भवती महिलाओं को उनके घर से सरकारी अस्पतालों तक ले जाने के लिए एम्बुलेंस की व्यवस्था का दावा किया गया है। लेकिन क्या ग्रामीण इलाकों और शहर के पिछड़े क्षेत्रों में किसी गर्भवती महिला को यह सुविधा मिल रही है? आये दिन खबर आती है कि दूर दराज के गाँवों से सरकारी अस्पतालों तक सही समय पर नहीं पहुँचने के कारण गर्भवती महिलाएँ रास्ते ही दम तोड़ देती हैं। जो बच जाती हैं उन्हें असुरक्षित प्रसव की असहनीय पीड़ा और जोखिम झेलनी पड़ती हैं। समय पर उपचार न होने के कारण अक्सर माँ के गर्भ में ही बच्चे की मौत हो जाती है, जो प्रसूता की जान के लिए भी खतरा बन जाता है।

कुछ महिलाएँ निजी वाहन या भाड़े के वाहनों से स्वास्थ्य केन्द्रों पर पहुँच भी जाती हैं तो सरकारी अस्पतालों में कोई डॉक्टर, नर्स और इलाज का साधन उपलब्ध नहीं होता। ज्यादातर सरकारी अस्पतालों में प्रसव के समय नर्स ही डॉक्टर का सारा काम निपटाती हैं। अधिकाँश मामलों में अप्रशिक्षित दाइयाँ ही गर्भवती महिलाओं का प्रसव करवाती हैं और डॉक्टर से सलाह मशवरा किये बिना ही दवाएँ दे देती हैं।

सरकारी अस्पतालों की दुर्दशा और प्राइवेट नर्सिंग होम के फैलते जाल के चलते जिनके पास भी थोड़ा सामर्थ्य होता है, वे निजी अस्पतालों में ही प्रसव कराना चाहते हैं। लेकिन भारी संख्या में गरीब लोग सस्ते इलाज के लिए सरकारी अस्पतालों में आते हैं, जहाँ उन्हें भारी परेशानियों का सामना करना पड़ता है। मातृ-शिशु कल्याण के नाम पर जो थोड़ी राशि सरकार देती है वह भी भ्रष्टाचार की भेंट चढ़ जाती है।

सरकारी योजना के अंतर्गत प्रसव के साथ ग्रामीण औरतों को 2,000 रुपये और शहरी औरतों को 1,200 रुपये दिया जाता है। लेकिन जब शिशु जीवित पैदा हो, तभी यह सहायता दी जाती है और प्रसव के बाद महिला की देखभाल के लिए कोई आर्थिक सहायता नहीं दी जाती है।

निजी अस्पतालों में इलाज महँगा होने के कारण गरीब लोग बहुत कम ही वहाँ जा पाते हैं और जो जाते हैं, वे इलाज के लिए साहूकारों से कर्ज लेते हैं और जिंदगी भर कर्ज के मकड़-जाल में फँसे रहते हैं।

कुल मिलाकर जननी सुरक्षा योजना भी दूसरी सरकारी योजनाओं की तरह गरीबों की आँख में धूल झोंकना ही है। सुरक्षित प्रसव और जच्चा-बच्चा के जीवन की गारण्टी करने में यह पूरी तरह असफल रहा है।

❑

# शिक्षा का अधिकार और बालमजदूर

2001 की जनगणना के मुताबिक देश में बाल मजदूरों की संख्या लगभग सवा करोड़ है, जबकि गैर सरकारी संस्थाओं के मुताबिक यह संख्या दो करोड नब्बे लाख है। यह माना जाता है कि भारत में 14 साल से कम उम्र के बच्चों की आबादी पूरी अमरीकी आबादी से भी ज्यादा है। भारत में कुल श्रम शक्ति का लगभग 3.6 फीसदी हिस्सा 14 साल से कम उम्र के बच्चों का है। हमारे देश में हर दस बच्चों में से 9 बच्चे काम करते हैं। ये बच्चे लगभग 85 फीसदी पारम्परिक कृषि गतिविधियों में कार्यरत हैं, जबकि 9 फीसदी से कम उत्पादन, सेवा और मरम्मती कार्यों में लगे हैं। सिर्फ 0.8 फीसदी कारखानों में काम करते हैं। अकेले मध्यप्रदेश में लगभग दस लाख बाल मजदूर हैं। मतलब दस लाख बच्चे स्कूल से बाहर हैं, बेहतर शिक्षा से वंचित हैं और शारीरिक-मानसिक विकास से भी। देश के चौदह वर्ष तक के में हर बच्चे को अनिवार्य और निशुल्क शिक्षा का अधिकार दिया गया है। यह संविधान का सीधे-सीधे मखौल उड़ाने वाला प्रहसन भी है।

संयुक्त राष्ट्र महासभा ने 1989 में बच्चों के अधिकारों से सम्बंधित एक महत्त्वपूर्ण घोषणा पत्र जारी किया था। उसके तीन मुख्य बिंदु थे-- बच्चों के स्वास्थ्य और पोषण की व्यवस्था, निशुल्क और अनिवार्य शिक्षा, और बालश्रम को दूर कर संरक्षण की व्यवस्था। लेकिन इस घोषणापत्र के लगभग सत्रह साल पूरे हो जाने के बाद भी स्थितियों में कोई खास सुधार नहीं आ पाया है।

दिल्ली उच्च न्यायालय के आदेश के बावजूद बाल मजदूरी में लगे बच्चों को न छुड़ा पाने को लेकर दायर याचिका पर सुनवाई करते हुए न्यायालय ने दिल्ली सरकार की तरफ से पेश रिपोर्ट पर अंसतुष्टि जताते हुए फिर से रिपोर्ट देने के लिए कहा है। मुख्य न्यायाधीश डी मुरूगेसन व न्यायमूर्ति वीके जैन की खंडपीठ ने सरकार के चाईल्ड लेबर कमीश्नर को निर्देश दिया है कि न्यायालय ने इस सम्बंध में 15 जुलाई 2009 को आदेश दिया था कि हर महीने पाँच सौ बच्चे छुड़ाए जायें और उनका पुर्नवास किया जाय। बाल मजदूरी कराने वाले मालिकों से प्रति बच्चे बीस हजार रुपये वसूले जायें और इस राशि को बच्चों के पुर्नवास के लिए प्रयोग किया जाय। साथ ही, यह रिपोर्ट दायर करके बताया जाए कि वर्ष 2009 से अब तक कितने बच्चों को दिल्ली में बाल मजदूरी से मुक्त कराया जा चुका है, कितने बच्चों का पुनर्वास हुआ है और बाल मजदूरी कराने वाले कितने मालिकों के खिलाफ कार्रवाई की अनुशंसा की गयी है। साथ ही कहा है कि बच्चों को छुड़ाने की प्रक्रिया को तेज किया जाय। अब इस मामले में एक मई को सुनवाई होगी। बाल श्रम आयुक्त ने अदालत में एक हलफनामा दायर करके बताया था कि उनके विभाग ने वर्ष 2012 में कुल 682 बच्चों को छुड़ाया था। इतना ही नहीं खुद विभाग मान रहा है कि दिल्ली में लगभग 18,500 बच्चे बाल मजदूरी में लगे हैं।

दरअसल बाल मजदूरी का प्रश्न इस सामाजिक व्यवस्था से जुड़ा हुआ है। उपर्युक्त तथ्यों से यह जाहिर होता है कि नग्न पूँजीवादी शोषण पर टिकी इस व्यवस्था के रहते कानून बनाने और न्यायिक सक्रियता के बूते पर बाल मजदूरी खत्म नहीं की जा सकती। **-शैलेन्द्र चौहान** ❑

## बच्चे काम पर जा रहे हैं

कोहरे से ढकी सड़क पर बच्चे काम पर जा रहे हैं
सुबह सुबह
बच्चे काम पर जा रहे हैं
हमारे समय की सबसे भयानक पंक्ति है यह
भयानक है इसे विवरण की तरह लिखा जाना
लिखा जाना चाहिए इसे सवाल की तरह
काम पर क्यों जा रहे हैं बच्चे?
क्या अंतरिक्ष में गिर गयी हैं सारी गेंद
क्या दीमकों ने खा लिया है
सारी रंग-बिरंगी किताबों को
क्या काले पहाड़ के नीचे दब गये हैं सारे खिलौने
क्या किसी भूकंप में ढह गयी हैं
सारे मदरसों की इमारत

क्या सारे मैदान, सारे बगीचे और घरों के आँगन
खत्म हो गये हैं एकाएक
तो फिर बचा ही क्या है इस दुनिया में?
कितना भयानक होता अगर ऐसा होता
भयानक है लेकिन इससे भी ज्यादा यह
कि हैं सारी चीजें हस्बमामूल
पर दुनिया की हजारों सड़कों से गुजते हुए
बच्चे, बहुत छोटे छोटे बच्चे
काम पर जा रहे हैं...

**-राजेश जोशी**

# स्वाधीनता आन्दोलन की गुमनाम वीरांगनाएँ

यह निर्विवाद है कि स्वाधीनता आन्दोलन में महिलाओं ने बढ़-चढ़ कर हिस्सेदारी की थी, लेकिन आजादी के 65 साल बाद भी ऐसी कई क्रांतिकारी महिलाएँ इतिहास के पन्नों में दबी पड़ी हैं जिनके बारे में किसी को कुछ पता नहीं है। 8 मार्च 2013 को कोलकाता में कुछ क्रांतिकारी महिलाओं के चित्रों व दस्तावेजों की प्रदर्शनी लगायी गयी, तो मालूम हुआ कि स्वाधीनता आन्दोलनों में अविभाजित बंगाल की सैकड़ों महिलाओं ने बहुत ही अहम भूमिका निभायी थी। खुफिया विभाग की लगभग 100 साल पुरानी फाइलों के मुताबिक इन क्रांतिकारी महिलाओं में से कुछ को फाँसी की सजा दी गयी तो कुछ ने जेल की कालकोठरी में बीमारियों से लड़ते हुए अंतिम दम तक संघर्ष जारी रखा। इनमें से ज्यादातर महिलाएँ 20वीं सदी के सबसे क्रांतिकारी संगठनों-- अनुशीलन समिति व युगांतर के साथ जुड़ी थीं।

चटगाँव (अब बांग्लादेश में) की रहने वाली पार्वती नलिनी को क्रांतिकारी गतिविधियों में शामिल होने के आरोप में 18 मार्च 1934 को उम्र कैद की सजा दी गयी थी, लेकिन इलाज के आभाव में बीमारी की हालत में 14 अगस्त 1935 को दमदम के टीबी अस्पताल में उनका निधन हो गया। इसी तरह बाकुड़ा की भक्ति घोष और बारीसाल की शैलबाला राय को भी क्रांतिकारी संगठनों से सम्बन्ध के आरोप में कठोर सजा सुनायी गयी थी। 1920 से 1940 के बीच हुए आन्दोलनों के दौरान इन महिलाओं पर जुल्मी ब्रिटिश हुकुमत ने घोर अत्याचार किये।

आजादी की लड़ाई में सभी वर्गों, सभी धर्मों और सभी जातियों की महिलाएँ शामिल थी। इनमें कयी अनपढ़ महिलाएँ भी थीं। उस समय महिलाओं को घर से बाहर निकलना तो दूर, उन्हें घर के भीतर भी घूँघट में रहना पड़ता था। उन्होंने देश की आजादी के लिए घूँघट उतार फेंका और अँग्रेजी हुकुमत से संघर्ष करते हुए जेल गयीं। जेल, जलावतनी और फाँसी भी उनके हौसले को पस्त न कर पायी। इन्होंने कभी सहयोगी के रूप में तो कभी अग्रिम पाँत में आकर देश की आजादी में क्रांतिकारियों का साथ दिया।

आजादी के बाद देश के शासक वर्गों ने इतनी भी जहमत नहीं उठायी कि वे इन क्रांतिकारी महिलाओं के बारे में अपनी युवा पीढ़ी को अवगत करायें कि किस तरह वे पुरुषों के साथ कंधे से कंधा मिलकर लड़ी थीं। पहले ऐसी कुछ क्रांतिकारियों की जीवन गाथा को पाठ्य पुस्तक में शामिल किया गया था, लेकिन अब उन्हें पाठ्य पुस्तक से बाहर कर दिया गया है और उनकी जगह नकली उपभोक्तावादी नायक-नायिकाओं को आदर्श के रूप मे स्थापित किया जा रहा है।

इन क्रांतिकारी महिलाओं ने संगठित होकर वह कर दिखाया, जो हमें आज स्वप्न सा लगता है। जिन रूढ़ियों व कुरीतियों को तोड़ कर इन्होंने घर की चारदीवारी पार की और आजादी की लड़ाई में शामिल हुईं, आज महिलाओं पर दुबारा उन्हीं रूढ़ियों और कुरीतियों को थोपा जा रहा है।

अँग्रेजों ने विदेशी पूँजी की लूट के लिए उपनिवेशवाद का जो जाल फैलाया था उससे भी निर्मम लूट आज जारी है, बस उसका तौर-तरीका बदल गया है। ऐसी स्थिति में अपनी इन पूर्वज वीरांगना पुरखिनों को याद करना और उनसे प्रेरणा ग्रहण करना बहुत ही जरूरी है। ❑

*पृष्ठ 54 का शेष...*

साम्राज्यवादी अपना वर्चस्व कायम करने और बरकरार रखने के लिए किस हद तक जा सकते हैं, यह किसी से छुपा नहीं है। वेनेजुएला के चुनावों में उन्होंने इसे ही साबित किया है। उनकी तमाम कोशिशों के बावजूद वेनेजुएला की जनता ने दिखा दिया की वह क्या चाहती है और माडुरो को अपना नेता चुन लिया।

शावेज द्वारा शुरू किये गए कार्यों को जारी रखने की जिम्मेदारी चुनाव जीतने के बाद माडुरो के ऊपर आ गयी है। माडुरो के सामने वेनेजुएला में सरकार बचाने, लातिन अमरीकी देशों के साथ एकता बनाये रखने और वेनेजुएला की विभिन्न समस्याओं जैसे- बिजली, खाद्य पदार्थों की कमी, मुद्रास्फीति और भारी मात्र में व्याप्त अपराध और भ्रष्टाचार से निपटने जैसा ऐतिहासिक कार्यभार है।

वेनेजुएला में जारी यह क्रांति पूरी दुनिया की प्रगतिशील ताकतों के इस भरोसे को मजबूत करती है की अगर मेहनतकश जनता के साथ कंधे से कंधा मिलकर संघर्ष किया जाय, तो साम्राज्यवाद का विकल्प खड़ा किया जा सकता है। ❑

# मरते बच्चे बढ़ते अरबपति
# हर साल 16 लाख बच्चों को निगल जाती है यह व्यवस्था

हमारा देश आज विश्व में बच्चों का सबसे बड़ा कत्लगाह हो गया है। 5 वर्ष से कम उम्र के लगभग 16 लाख बच्चे प्रत्येक वर्ष काल के गाल में समा जाते हैं। इनमें से 8 लाख बच्चे तो अपने जीवन का एक माह भी पूरा नहीं कर पाते। हमारे देश की ढाई करोड़ महिलायें गर्भधारण के दौरान और उसके बाद भी स्वास्थ्य सेवाओं से वंचित रहती है, जिसके कारण नवजात शिशु मृत्यु दर साल दर साल बढ़ती जा रही है। विकास दर के मामले में विश्व में चीन के बाद भारत का दूसरा स्थान है, वहीं बच्चों की मौत के मामले में यह विश्व में प्रथम स्थान पर है।

विकास के जिस रास्ते पर देश चल रहा है, वहाँ देश के नौनिहालों के लिए कोई जगह नहीं है। चिन्ता है तो बस अमीरों के भविष्य की।

हमारे देश में 5 करोड़ बच्चों का वजन अपनी उम्र के सामान्य बच्चों से कम है। सभी राज्यों में प्रति हजार 59 बच्चों की मौतें होती हैं। इनमें झारखण्ड और असम बच्चों की मौतों के मामले में सबसे आगे है। पश्चिम बंगाल, जम्मू कश्मीर, राजस्थान और छत्तीसगढ़ राज्य में भी बच्चों की मृत्यु दर बद से बदतर है। उड़ीसा के कंधमाल में 145 प्रति हजार, श्रावस्ती (उत्तर प्रदेश) में 142 प्रति हजार और पन्ना (मध्य प्रदेश) में 140 प्रति हजार बच्चे हर साल मरते हैं।

किसी भी समाज की बेहतरी का पैमाना वहाँ के बच्चों की स्थिति होती है। आखिर हमारे शासक वर्ग और मीडिया इन खबरों के प्रति इतनी असंवेदनशील क्यों हैं? प्रति वर्ष 16 लाख बच्चों की अकाल मौत भी उनके मन मस्तिष्क में कोई हरकत क्यों नहीं पैदा कर पाती? मौत के शिकार ये बच्चे भारत की बहुसंख्य मेहनतकश जनता के बच्चे हैं। देशी-विदेशी पूँजीपतियों का मुनाफा बढ़ता रहे, उनकी अय्यासी चलती रहे इसके लिए हमारे शासक वर्ग कार्य कर रहे हैं और इसमें वे सफल भी हैं। वे चाहते हैं कि बच्चे भले ही मरते रहें, अमीरों की खुशहाली में कोई कमी न आये। ❑

# नियामगिरी पहाड़ी पर सर्वोच्च न्यायालय का फैसला

सर्वोच्च न्यायालय ने 18 अप्रैल को दिये अपने फैसले में ओडिशा के नियामगिरी पहाड़ी में बॉक्साइड की खुदाई पर प्रतिबन्ध को जारी रखा है।

यह फैसला वहाँ के वनवासी डोंगरिया-कोंध आदिवासियों के इस अधिकार को स्वीकृति प्रदान करता है कि अगर कोई परियोजना उनके आवास, आर्थिक विकास और संस्कृति को प्रभावित करता हो, तो उसमें उनकी भी सहमति लेना जरूरी है। सर्वोच्च न्यायालय ने कहा कि यह फैसला करने का अधिकार वहाँ की ग्रामसभा या स्थानीय स्वशासन को है कि नियामगिरी पहाड़ी पर उनके देवता का निवास है या नहीं। उन लोगों से कहा गया है कि वे अपनी राय तीन महीने के अन्दर केन्द्रीय पर्यावरण मंत्री से साझा करें।

यह खनन परियोजना ओडिशा सरकार और ब्रिटिश खरबपति अनिल अग्रवाल द्वारा नियंत्रित वेदान्ता रिसोर्सेज के बीच एक संयुक्त उपक्रम है। इस परियोना का उद्देश्य वेदान्ता द्वारा लांजीगढ़ और कालाहांड़ी में स्थापित एल्युमीनियम रिफायनरी को बॉक्साइट की आपूर्ति के लिए खनन करना है जिसका इस्तेमाल कच्चा माल के रूप में होता है।

2011 में केन्द्र सरकार ने इस खनन परियोजना को पर्यावरण सम्बन्धी अनुमति प्रदान नहीं की थी।

ओडिशा सरकार ने केन्द्र सरकार के निर्णय को चुनौती देते हुए सर्वोच्च न्यायालय में अपील की थी, क्योंकि इसके कारण हजारों करोड़ के निवेश का नुकसान होने वाला था।

ग्राम सभा को अधिकार दिये जाने का फैसला चाहे जितना भी लोकतांत्रिक लगता हो, वेदान्ता के लिए इससे निपटना कोई मुश्किल काम नहीं। साम-दाम-दण्ड-भेद की नीति से किसी ग्राम सभा में बहुमत अपने पक्ष में करने के लिए वेदान्ता कम्पनी कुछ भी उठा नहीं छोड़ेगी। खास कर तब, जब कि ओडिशा सरकार हर कीमत पर खनन परियोजना चालू करने पर आमादा है। ❑

# विश्व संकट से वित्तीय परिसम्पत्तियों के कारोबार को झटका

हाल ही में 183 देशों की वित्तीय परिसम्पत्तियों के डेटाबेस का अध्ययन करके मैकिन्से ग्लोबल इंस्टिट्यूट ने एक रिपोर्ट प्रस्तुत की है। इस रिपोर्ट के अनुसार विश्व भर की वित्तीय परिसंपत्तियों का अनुमानित मूल्य 2007 तक 8 प्रतिशत सालाना की दर से बढ़ी। लेकिन इसके बाद इसकी दर घटकर 2 प्रतिशत से भी कम हो गयी। देशों की सरहदों के आर-पार होने वाला पूँजी प्रवाह, जो 2007 में 11.8 ट्रिलियन डॉलर था, 2007 में घटकर 2.2 ट्रिलियन डॉलर हो गया। 2012 में थोड़ी बढ़ोत्तरी हुई फिर भी यह 4.6 ट्रिलियन ही हो पाया जो 2007 की तुलना में 40 प्रतिशत से भी कम है।

पूँजी प्रवाह में यह कमी ज्यादातर विकसित देशों के बीच आयी है। यूरोप का आर्थिक संकट इस कमी का सबसे बड़ा कारण माना जा रहा है। इसमें भी लगभग आधी कमी केवल पश्चिमी यूरोप के देशों के आर्थिक संकट के कारण हुई। उदाहरण के तौर पर 2007 की अंतिम तिमाही में यूरो क्षेत्र के बैंकों ने अपने विदेशी दावे 3.7 ट्रिलियन डॉलर कम कर दिये। इसमें से 2.8 ट्रिलियन डॉलर की कमी यूरोप के बैंकों के बीच हुआ है और 1.2 ट्रिलियन डॉलर केवल जिप्सी (ग्रीक, आयरलैंड, पुर्तगाल, स्पेन और इटली) देशों के बीच ही है। विकासशील देशों की हालत भी बिगड़ी है। वित्तीय प्रसार की दर इन देशों में भी कम हुई है, अंतर बस इतना है की पूँजी प्रवाह पूरी तरह रुका नहीं है, धीरे-धीरे ही सही पर हो रहा है।

विश्व पूँजीवाद के सरगना अमरीका ने 1990 में दुनिया के सामने ऐसा माहौल बनाया था, जैसे पूँजी का ठहराव तोड़ने का स्थायी रास्ता खोज लिया हो। वैश्वीकरण-उदारीकरण का मंत्र पढ़ते हुए पूरी दुनिया में पूँजी का विनाशकारी खेल शुरू हुआ। लेकिन एक के बाद एक आने वाले संकटों ने बता दिया की पूँजी की अन्तर्निहित बीमारी का कोई इलाज नहीं है।

1970 के दशक में शेयर बाजार की सट्टेबाजी में पैसा लगाने का चलन तेजी से बढ़ा तो तात्कालिक तौर पर ठहराव को दूर करने में मदद मिली। इसे ही अर्थव्यवस्था का वित्तीयकरण कहते है जिसका मतलब है --पूँजी का वास्तविक उत्पादक अर्थव्यवस्था की जगह शेयर बाजार की सट्टेबाजी में लगाना और बिना कोई मूल्य पैदा किये फर्जी तरीके से मुनाफा कमाना। जब अनाज, कच्चा माल और ऊर्जा के क्षेत्रों में सट्टेबाजी शुरू हुई है तो पूँजी निवेश का दायरा देश की सीमाएँ लाँघने लगा और दुनिया भर के शेयर बाजारों में पूँजी की आवाजाही होने लगी है। लेकिन अक्सर गुब्बारा फटता है और अरबों की पूँजी गायब हो जाती है। 2006-2007 में यही हुआ था।

इसमें कोई संदेह नहीं की एकाधिकार के दौर में पहुँच कर पूँजीवादी व्यवस्था अपनी सभी सकरात्मकताएँ खो चुकी है। मानवता के बड़े हिस्से को देने के लिए उसके पास कंगाली और तबाही के सिवा कुछ नहीं। जब तक यह बचा रहेगा, तब तक यह अपने जिन्दा रहने का कोई इससे भी खराब, परजीवी और विनाशकारी रास्ता तलाशेगा। लेकिन इसका बोझ अन्ततः दुनिया की मेहनतकश जनता पर ही पड़ेगी। इसका खात्मा जरूरी है, लेकिन इसका अंत खुद ब खुद नहीं होगा। इसके लिए सचेत और संगठित प्रयास जरूरी है। ❑

## लोकतांत्रिक राजतंत्र

पैट्रिक फ्रेंच ने अपनी किताब 'इंडिया : ए पोर्ट्रेट' में भारतीय संसद के बारे में यह सनसनीखेज खुलासा किया है–

लोक सभा में 30 साल से कम उम्र के हर सांसद को सच पूछें तो बपौती में कुर्सी हासिल हुई है और 40 साल से कम उम्र वाले कुल 66 सांसदों में से दो तिहाई से अधिक पुश्तैनी सांसद हैं।

इतना ही नहीं, नयी लहर वाले इन विधिनिर्माताओं (सांसदों) को राजनीति में अपने समकक्षों से एक दशक का शुद्ध लाभ मिला है, क्योंकि पारिवारिक राजनीति से लाभ उठाने वाले हर औसत सांसद की उम्र उन सांसदों से 10 साल कम है, जो कोई खास पारिवारिक पृष्ठभूमि न होने के बावजूद सांसद बने हैं।

कॉंग्रेस के अंदर स्थिति कहीं अधिक विकट है– 35 साल से कम उम्र का हर कांग्रेसी संसद सदस्य पुश्तैनी सांसद है। अगर यही रुझान कायम रहा तो सम्भव है कि भारतीय संसद का हर सदस्य केवल पुश्तैनी सांसद होगा और देश वापस वहीं पहुँच जायेगा, जहाँ से स्वाधीनता आन्दोलन के पहले यह चला था, जब देश में वंशानुगत राजा और राजकुमार शासन किया करते थे। ❑

# इसे लोकतंत्र कहें या चोर तंत्र

जाने-माने पत्रकार पी साईनाथ ने 'द हिन्दू' में प्रकाशित अपने एक लेख में भारत के मौजूदा चोर तंत्र की सच्चाई को उजागर किया है। लेख में दिये गये आँकड़े उस महालूट की कहानी बयान करते हैं जिसे पिछले कुछ वर्षों से पूरी तरह वैध और नैतिक बना दिया गया है। गैर जरूरी मुद्दों पर नूराकुश्ती करने वाली रंग-बिरंगी पार्टियों में इस महा लूट को लेकर गजब की सहमति है। भ्रष्टाचार के खिलाफ धर्मयुद्ध छोड़ने वाले भी इस महालूट को शिष्टाचार मानकर मौन धारण किये हुए हैं।

2012-13 के बजट में देश के सोना, हीरा और आभूषण के कारोबारियों को करों में 61,035 करोड़ रुपयों की छूट दी गयी। इसी बजट में धनकुबेरों को कॉरपोरेट आयकर में 68,008 करोड़ रुपये की छूट दी गयी। इसी तरह उन्हें उत्पादन शुल्क में 2,06,000 करोड़ रुपये की छूट दी गयी। इसी तरह उन्हें उत्पादन शुल्क में 2,53,000 करोड़ रुपये की छूट दी गयी। 2012-13 के वित्तीय वर्ष में धनकुबेरों को करों में 5,28,000 करोड़ रुपये की छूट दी गयी। केवल आभूषण, सोना और हीरे के कारोबारियों को पिछले 36 महीनों में 1,76,000 करोड़ रुपये की कर छूट दी जा चुकी है। भूख से बेहाल इस विशाल देश के मुट्ठी भर धनकुबेरों को पिछले 7 सालों में 31,11,000 करोड़ रुपये की कर छूट दी जा चुकी है। यह राशि दिमाग को सुन्न कर देने वाली है। इस कर छूट का अर्थ है कि पिछले 7 सालों से हर मिनट जनता के हिस्से के 70 लाख रुपये धनकुबेरों के खाते में डाले जा रहे हैं। उनकी योग्यता, मेहनत या भाग्य बस यही है कि सरकार उन पर मेहरबान हैं और खुल कर कृपा बरसा रही है।

वित्तमंत्री चिदंबरम मानते हैं कि देश में 42,800 लोगों की सालाना कर योग्य आमदनी 1 करोड़ से ज्यादा है। सवा अरब की आबादी में से केवल यही लोग कर छूट का असली मजा ले रहे हैं। दुनिया की प्रसिद्ध व्यापारिक पत्रिका 'फोर्ब्स' जब अरबपतियों की सूची जारी करती है, तब कर छूट का प्रभाव स्पष्ट दिखायी देता है। फोर्ब्स 2013 की सूची में 55 भारतीय अरबपतियों ने जगह बनायी है। 2012 में यह संख्या 48 थी। एक साल में जो सात नये अरबपति पैदा हुए, उनमें तीन सोना, हीरा और आभूषण के कारोबारी हैं। इन्हें ही पिछले बजट में सबसे ज्यादा छूट दी गयी थी। सभी 55 धनकुबेरों की कुल सम्पत्ति 10,50,000 करोड़ आँकी गयी है। इनमें से ऊपर के दस की सम्पत्ति 10,220 करोड़ डॉलर है। यह हमारे 9,600 करोड़ डालर के वित्तिय घाटे से अधिक है। ऊपर के तीन अरबपतियों की सम्पत्ति 2,57,000 करोड़ रुपये है। अरबपतियों के मामले में अमरीक, चीन, रूस, जर्मनी के बाद भारत का पाँचवा स्थान है, जबकि 2007 में भारत का स्थान आठवाँ था।

शासक वर्ग और उसका प्रचार तंत्र हमें रोज समझाता है कि देश के पूँजीपति अपनी मेहनत, लगन, योग्यता और भाग्य के दम पर धनकुबेर बनते हैं। इसमें हमारे राजनेताओं की मेहनत, लगन और योग्यता का कहीं अधिक योगदान है, हाँ भाग्य जरूर उन धनकुबेरों के खुले हैं। लेकिन अरबपति-खरबपति बनाने वाला असली फार्मूला कुछ और ही है।

इस भारी छूट का दूसरा पहलू संयुक्त राष्ट्र संघ की मानव विकास सूची में दिखायी देता है। 186 देशों की इस सूची में 2007 में भारत 127वें स्थान पर था, जबकि 2013 में नौ सीढ़ी नीचे उतर कर 136वें स्थान पर आ गया है। मानव विकास में भारत दक्षिण अमरीकी और कैरेबियाई देशों से भी पीछे है। श्रीलंका और बांग्लादेश जैसे देश भी मानव विकास में भारत से बहुत बेहतर स्थिती में हैं। इस मामले में भारत की स्थिति सालों से गृहयुद्ध की आग में जल रहे रवाण्डा और सोमालिया जैसे अफ्रीकी देशों के करीब है। इसी के साथ-साथ भारत बच्चों के लिए दुनिया के सबसे असुरक्षित देशों में है। यहाँ कुपोषित बच्चों की कुल संख्या 'सब-सहार' अफ्रीकी देशों के दोगुने से भी ज्यादा है।

वित्तमंत्री चिदम्बरम ने 2011 में लाचारी भरे अंदाज में कहा था कि "भारत में प्रत्यक्ष कर सकल घरेलू उत्पाद का 5. 5 प्रतिशत और अप्रत्यक्ष कर 4.4 प्रतिशत है। इतने कम संसाधनों से इतने बड़े विकासशील देश की जरूरतों की पूर्ती सम्भव नहीं है।" लेकिन अगले ही साल 2012-13 के बजट में उन्होंने मुट्ठी भर धनकुबेरों को करों में 5,28,000 करोड़ रुपये की छूट दी और देश की बदहाल जनता को मिलने वाली नाममात्र की मूलभूत सुविधाओं में कटौती कर दी। 2012-13 के बजट में सकल घरेलू उत्पाद तुलना में शिक्षा और स्वास्थ्य पर होने वाला खर्च घटा दिया गया। ग्रामीण विकास से जुड़ी योजनाओं पर होने वाले खर्च में भी कटोती की गयी। खाद्यान आपूर्ति पर किये जाने वाले खर्च में नाममात्र की बढ़ोत्तरी की गयी, वह भी जल्दी ही महँगाई की भेंट चढ़ गयी। सरकार की इन्हीं

नीतियों के चलते प्रतिव्यक्ति अनाज और दालों के उपभोग में भारी कमी आयी। 1990 के आर्थिक सुधारों से पहले अनाज और दालों का प्रतिव्यक्ति उपभोग 480.3 ग्राम था, जो 2011 तक आते-आते घटकर 444.6 ग्राम रह गया। वैश्विक भूख सूचकांक के अनुसार भारत दुनिया के सबसे भूखे 75 देशों में 69वें स्थान पर है, यानी अफ्रीकी देश 'रवाण्डा' से भी 8 अंक नीचे।

प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह ने जनता को दी जाने वाली नाममात्र की राहतों पर कुपित होते हुए कहा था कि- "पैसे पेड़ पर नहीं लगते।" उन्होंने बिल्कुल ठीक कहा था। चन्द धनकुबेरों को भेंट की गयी 31,11,000 करोड़ की यह विशाल धनराशी भी पेड़ पर नहीं लगी थी। यह देश की भूखी, बदहाल जनता के मुँह का निवाला छीनकर इकट्ठी की गयी थी। अँग्रेजों की गुलामी के दौर में भी यही होता था, मुट्ठीभर अंग्रेज शासकों की सम्पदा दिन-दूनी रात चौगुनी बढ़ती थी और भारत की जनता भूख से मरती थी। आज हम 'आजाद' हैं, लेकिन अंग्रेजों के उत्तराधिकारी आज भी लूट तंत्र की उसी परम्परा को कायम रखे हुए हैं। ❑

# परमाणु संयंत्र लापरवाह तंत्र

जिस नहर के पानी के सहारे ये रिएक्टर दिल्ली से महज एक सौ पचास किलोमीटर दूर लगाया जा रहा है, उस नहर में पिछले पन्द्रह दिन से बिल्कुल पानी नहीं है। फतेहाबाद के गोरखपुर में प्रस्तावित परमाणु संयंत्र की चारों यूनिटों के कूलिंग सिस्टम को चलाने के लिए विशेषज्ञों को अब पानी की चिंता सताने लगी है। कारण अभी हाल ही में कई दिनों तक भाखड़ा में पानी का बंद रहना विशेषज्ञों की चिंता बना है। प्रधानमंत्री को मालूम होना चाहिये पानी रिएक्टरों के लिए कितना जरूरी होता है। प्रधानमंत्री की आँखों में पानी न बचा हो तो भी यह देश चल ही जाता है। लेकिन रिएक्टर? फुकुशिमा वालों से पूछिए!

यही वजह है कि संयंत्र विशेषज्ञ एक बार फिर नये सिरे से परमाणु संयंत्र के लिए पानी का विकल्प तलाशने में जुटे हैं। इससे पहले संयंत्र के लिए भाखड़ा नहर से पानी लेकर संयंत्र के कुलिंग सिस्टम को चलाये जाने के दावे किये जा रहे थे। जब से भाखड़ा नहर बंद हुई है तब से विशेषज्ञों को साँसें अटकी हुई हैं। लोगों को पीने के पानी के लाले पड़े हैं, तो संयंत्र के कूलिंग सिस्टम के लिए पानी का इंतजाम कहाँ से होगा। अगर परमाणु संयंत्र के शुरू होने के बाद भाखड़ा में इस तरह की रुकावट आयी तो संयंत्र के कुलिंग सिस्टम का क्या होगा। वहीं परमाणु संयंत्र विरोधी मोर्चा के डॉ. राजेंद्र शर्मा कहते हैं कि संयंत्र के कूलिंग सिस्टम को 24 घंटे पूरी मात्रा में पानी न मिले तो सिस्टम नियंत्रण से बाहर हो सकता है। गौरतलब है कि गोरखपुर परमाणु संयंत्र में 700-700 मेगावाट की 4 यूनिट शुरू की जाएँगी। जिसके लिए मिट्टी की सैंपलिंग की जा रही है।

कूलिंग सिस्टम को चलाने के लिए लगातार 320 क्यूसिक पानी की जरूरत पड़ेगी। मौजूदा समय में भाखड़ा नहर बीते 10 अप्रैल से बंद है। जिसमें गत 23 अप्रैल को पानी छोड़ा जाना था, जो अब 30 अप्रैल तक छोड़ा जायेगा। भाखड़ा नहर को तीन साल बाद साफ-सफाई के लिए 15 दिन के लिए बंद किया गया था, लेकिन काम पूरा न होने के कारण इसकी अवधि बढ़ा दी गयी।

सीएनडीपी (कोअलिशन फॉर न्यूक्लीयर डिसारमामेंट एंड पीस) के रिसर्च स्कॉलर कुमार सुंदरम ने बताया कि अगर इस तरह से भाखड़ा नहर बंद होती रही या फिर प्राकृतिक आपदा के चलते नहर बंद हो जाए, तो परमाणु संयंत्र के कुलिंग सिस्टम को पानी नहीं मिल पाएगा। उन्होंने बताया कि यह जरूरी है कि संयंत्र के कुलिंग सिस्टम को 24 घंटे निरंतर पानी की सप्लाई मिले। कुमार सुंदरम ने बताया कि फुकुशिमा परमाणु संयंत्र हादसा कूलिंग सिस्टम के ठप होने की वजह से हुआ था। अगर गोरखपुर परमाणु संयंत्र की पानी सप्लाई बाधित हुई तो वही हाल यहाँ भी होगा। उन्होंने बताया कि अभी तक सरकार यह तय नहीं कर पायी है कि गोरखपुर परमाणु संयंत्र के लिए लगातार कितने पानी की सप्लाई और कैसे की जाएगी।

गोरखपुर हरियाणा अणु विद्युत योजना निदेशक टीआर अरोड़ा ने बताया कि संयंत्र के कूलिंग सिस्टम के लिए हर समय 320 क्यूसिक पानी की जरूरत रहेगी। उन्होंने बताया कि भाखड़ा नहर के बंद होने के बाद पानी मिलना मुश्किल है। कूलिंग सिस्टम को निरंतर चालू रखने के लिए विशेषज्ञों द्वारा शोध किया जा रहा है कि कूलिंग में कम से कम पानी कैसे लगे। **(साभार : दैनिक भास्कर)** ❑

# वेनेजुएला में माडुरो की जीत

वेनेजूएला में हाल ही में हुए राष्ट्रपति पद के चुनाव में निकोलस माडुरो विजयी हुए। माडुरो ने विपक्षी पार्टी के नेता हेनरिक कप्रिल्स के 49 प्रतिशत वोटों के मुकाबले 50.8 प्रतिशत वोट पाकर जीत हासिल की। यह चुनाव बोलिवारियाई क्रांति के अग्रदूत राष्ट्रपति ह्यूगो शावेज की 5 मार्च को कैंसर के कारण मृत्यु हो जाने की वजह से हुआ। हालाँकि जीत का अंतर बहुत कम रहा, लेकिन अमरीकी साम्राज्यवाद और उसके द्वारा समर्थित विरोधी पार्टी ने शावेज की विरासत को नेस्तनाबूत करने के लिए जिस तरह के हथकण्डे अपनाये थे, उन्हें देखते हुए यह जीत काफी मायने रखती है। वेनेजुएला ही नहीं, बल्कि समूची लातिन अमरीकी जनता के लिए इस जीत का काफी महत्त्व है।

1962 में जन्मे माडुरो पेशे से बस ड्राईवर हैं। बाद में वे ट्रेड यूनियन लीडर बने। उनके पिता भी ट्रेड यूनियन लीडर थे। बाद में माडुरो 2000 में राष्ट्रीय संसद में चुने गये। शावेज की सरकार में वे विदेश मंत्री बने। माडुरो उपराष्ट्रपति भी रह चुके है। शावेज की मौत के बाद उन्हें कार्यवाहक राष्ट्रपति बनाया गया था। शावेज ने अपने जीते जी उन्हें अपना उत्तराधिकारी घोषित कर दिया था। उन्होंने 2012 के अपने एक वक्तव्य में कहा था -"मेरी राय, उतनी ही स्पष्ट है जितना पूर्णिमा का चाँद- आप निकोलस मेडुरो को राष्ट्रपति चुनिये। यह मैं अपने दिल की गहराइयों से चाहता हूँ। अगर मैं यह काम जारी नहीं रख पाया माडुरो ही ऐसे युवा नेता हैं जिनमें क्रांति को जारी रखने की सबसे अधिक योग्यता है।"

मेडुरो एक ऐसी क्रांति के वाहक हैं, जिसका सपना दक्षिण अमरीका को स्पेनी साम्राज्यवाद से आजाद कराने वाले योद्धा साइमन बोलिवार ने देखा था और जिस सपने को जमीन पर उतारने का काम शावेज ने किया। बोलिवार चाहते थे की लातिन अमरीका पूरी तरह एकजुट हो और साम्राज्यवादी प्रभुत्व से पूरी तरह मुक्त हो। ह्यूगो शावेज ने बोलिवार को अपना आदर्श मानते हुए इसी दिशा में काम शुरू किया था। अपने चौदह वर्षों के शासन काल में शावेज ने आर्थिक और सामाजिक क्षेत्रों में बहुत सार्थक काम किये जैसे- जनता को मुफ्त स्वास्थ्य सेवाएँ उपलब्ध करायी, लोगों के लिए काफी संख्या में घर बनवाये, जन शिक्षा का प्रसार किया और लोगों के बीच क्रान्तिकारी विचारों को फैलाने के लिए लगातार प्रयास करते रहे।

शावेज की मौत ऐसे समय में हुई जब वेनेजुएला को उनकी सबसे ज्यादा जरूरत थी। उनके द्वारा शुरू किये गये बुनियादी काम अभी अधूरे हैं। उनकी नीतियों से सबसे ज्यादा लाभ वेनेजुएला की मेहनतकश गरीब जनता को मिला और मिलेगा। जाहिर है कि इसके लिए उच्च वर्ग और वहाँ लूटपाट कर रही साम्राज्यवादी कम्पनियों की तमाम सुविधाओं और विशेषाधिकारों में भारी कटौती की गयी और आगे भी इसे जारी रखना होगा।

वेनेजुएला का उच्च वर्ग और अमरीकी साम्राज्यवाद इसी वजह से बोलिवारियाई क्रांति का स्वाभाविक दुश्मन है और किसी भी कीमत पर इस धारा को रोकना चाहता है। इन दोनों ताकतों से शावेज जिंदगी भर संघर्ष करते रहे। शावेज की मृत्यु के बाद एक बार फिर साम्राज्यवादी ताकतों ने जनता की नयी उम्मीद, माडुरो को हराकर अपना प्रभुत्व कायम करने के लिए अपनी पूरी ताकत झोंक दी। चुनाव के दौरान तरह-तरह के हथकंडे अपनाये गये। वे जानते थे कि उनकी हार निश्चित है, इसलिए रविवार को वोट पड़ने से पहले ही अमरीकी साम्राज्यवादियों ने वेनेजुएला की फासीवादी ताकतों के साथ मिलकर चुनाव के नतीजों को बिगाड़ने के लिए रणनीति तैयार की और चुनाव के दौरान जगह-जगह हिंसात्मक भगदड़ मचायी। रविवार की रात से ही उन्होंने हिंसात्मक कार्रवाइयाँ शुरू कर दी। कप्रिल्स ने अपनी फासीवादी ताकतों को सड़कों पर हिंसा फैलाने की खुली छुट दे दी, जिसमें माडुरो के 7 समर्थक मारे गये। कई सारे टीवी और रेडियो स्टेशन तबाह कर दिए गये, पिएसयूवी सदस्यों के घर गिराये और जलाये गये तथा फासीवादी गुंडों ने सड़क पर आते-जाते लोगों के साथ मार-पीट की।

साम्राज्यवादी मीडिया भी अफवाहों और गलत खबरों के द्वारा लोगों को दिग्भ्रमित करने का काम करते रहे। एक साम्राज्यवादी रिपोर्टर, नेल्सन बोकारांडा ने ट्विटर पर अपने 12 लाख अनुयायियों के बीच यह खबर फैलाई कि वेनेजुएला में अपनी सेवाएँ दे रहे क्यूबा के डॉक्टर अपने सीडीआई (जिन स्वस्थ्य केन्द्रों पर मुफ्त सेवाएँ दी जाती हैं) में बैलेट बॉक्स छुपाये हुए हैं। इसके बाद इन केन्द्रों पर, जो पूरे वेनेजुएला में फैले हुए हैं, पूर्व नियोजित तरीकों से हमले हुए। इन केन्द्रों को बचाने की कोशिश में लगे 2 लोगों की मौत हो गयी।

***...शेष पृष्ठ 49 पर***

# माली पर साम्राज्यवादी हमला

अफ्रीकी महाद्वीप के एक छोटे से देश माली को लोकतंत्र का पाठ पढ़ाने के बहाने फ्रांस ने वहाँ बमवर्षक विमानों और टैंकों से हमला कर दिया। इस काम में उसे साम्राज्यवादी सरगना अमरीका और नाटो का पूरा सहयोग मिला। साम्राज्यवादी गिरोह इससे पहले भी ईराक, अफगानिस्तान, लीबिया, सीरिया, ट्यूनीशिया आदि कई देशों को लोकतंत्र का पाठ पढ़ा चुके हैं। इन देशों में जनता का कत्लेआम कर 'जनता की सरकारें' भी कायम की जा चुकी हैं।

माली पहले फ्रांस का उपनिवेश था। उपनिवेशवाद से मुक्ति के इतने सालों बाद अब फ्रांस चाहता है कि वहाँ लोकतंत्र कायम हो, फ्रांस अमरीका और नाटो के देश चाहते हैं कि माली में आतंकवाद न हो। अमरीकी रक्षा सचिव लियोन पनेटा ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि उनका देश "इस बात के लिए प्रतिबद्ध है कि अलकायदा को छुपने के लिए कोई जगह न मिले।" माली पर हमले से पहले फ्रांसीसी रक्षामंत्री जेन-वेस्ली दी-ड्रिआन का कहना था कि ''राष्ट्रपति (फ्रांसीसी) इस बात के लिए प्रतिबद्ध हैं कि हमें उन आतंकवादियों को जड़ से खत्म कर देना चाहिए जो माली ही नहीं, बल्कि खुद हमारे देश और यूरोप के लिए भी खतरा हैं।"

फ्रांस और उसके सहयोगी माली में आतंकवाद का बवंडर मचा कर उसका उद्धार करना चाहते हैं, जबकि अफ्रीकी मामलों के जानकारों का कहना है कि माली में इस्लामी कट्टरपंथी भविष्य में लंबे समय तक कोई खतरा बनने वाले नहीं हैं। देश के दक्षिण भाग में कट्टरपंथी और उनके तुर्क सहयोगियों को बहुत ही कम समर्थन प्राप्त है, जबकि माली की 90 फीसदी आबादी वहाँ रहती है। जिस उत्तरी हिस्से में उनका प्रभाव है, वह विरल जनसंख्या वाला भीषण रेगिस्तानी भाग है। लेकिन माली का पुराना मालिक फ्रांस उसके लिए जरूरत से ज्यादा ही चिंतित है। फ्रांस के रक्षा मंत्री का कहना है कि "फ्रांस ने माली पर इसलिए हमला किया कि माली इस्लामपंथियों और उनके सहयोगी अलकायदा के हाथों में न चला जाये।'' अफ्रीकी देशों की आंतरिक सुरक्षा को लेकर फ्रांस की बेचैनी का ही प्रमाण है कि उसने अफ्रीकी देशों में 5,000 पैरा मिलिट्री सैनिक तैनात किये हैं जिनके दम पर वह अपनी कठपुतली सरकारों का बचाव करता है और अपने विरोधियों को सत्ता में आने से रोकता है।

लीबिया पर नाटो के हमले और गद्दाफी की शहादत के बाद माली में निश्चय ही इस्लाम पंथियों का प्रभाव बढ़ा है। गद्दाफी की छवि अखिल अफ्रीकी नेता की रही है, माली की तुर्क आबादी उनके प्रति गहरी हमदर्दी रखती थी। वे लोग गद्दाफी के पक्ष में नाटो के खिलाफ लड़े भी थे। इस लड़ाई में इस्लामपंथियों ने भी उनका साथ दिया। मुस्लिम बहुल देश माली में तुर्कों की स्थिति बहुत अच्छी नहीं रही है। वहाँ की आबादी में मूल अफ्रीकी लोगों का बहुमत है तथा तुर्कों और अरबों की संख्या बहुत कम है। तुर्कों के साथ लंबे समय से हो रहे भेदभाव ने भी उन्हें माली की सरकार के खिलाफ विद्रोह के लिए उकसाया है।

माली का संकट उस समय और ज्यादा गहरा गया जब अमरीका में प्रशिक्षित सैनिक अफसर कैप्टन अमादो सानागाओ ने माली की चुनी हुई लोकतांत्रिक सरकार का सैनिक तख्ता पलट किया। सैनिक शासन ने सरकार पर आरोप लगाया था कि वह तुर्कों और इस्लामपंथियों को रोकने में नाकाम रही है। सैनिक तानाशाह के गद्दी सँभालते ही तुर्कों और इस्लामपंथियों पर हमले बढ़ गए जिसका प्रतिकार करते हुए उन्होंने सैनिक शासन के खिलाफ अपना अभियान तेज कर दिया। अमादो सानागाओ ने स्थिति को अपने हाथ से निकलता देख अपने फ्रांस को सीधी कार्यवाही का न्योता दिया। फ्रांस ऐसे ही मौके का इन्तजार कर रहा था।

माली का उत्तरी भाग जो 6.4 लाख वर्ग किलोमीटर का विशाल रेगिस्तानी भाग है अभी भी विपुल प्राकृतिक संपदाओं से भरा है। यहाँ सोने और यूरेनियम के भण्डार हैं तथा खनिज हाईड्रोकार्बन भी भरपूर मात्रा में है। माली पर फ्रांसीसी हमले का असली मकसद इन्हीं प्राकृतिक संसाधनों को लूटना है। पश्चिमी अफ्रीका में चीन की मौजूदगी से भी फ्रांस काफी परेशान है। माली पर नया उपनिवेशवादी हमला साम्राज्यवादी देशों द्वारा आतंक के खिलाफ फर्जी युद्ध और उसके बहाने अपने लूट तंत्र को कायम रखने की रणनीति की ताजा मिसाल है।

आतंकवाद से लड़ाई इस रणनीति के लिए महज एक बहाना है। दुनिया भर में आतंकवाद के खिलाफ लड़ाई का प्राखण्ड करने वाले ये साम्राज्यवादी देश ही सीरिया की धर्मनिरपेक्ष सरकार के खिलाफ लड़ रहे एलाफीस्ट और अलकायदा से जुड़े संगठनों की मदद करते हैं। ❑

# लोकतंत्र के लिए एक माकूल दिन

**–अरुंधती राय**

क्या ऐसा ही नहीं था? मेरा मतलब कल। दिल्ली में वसंत ने अपने आगमन का उद्घोष किया। सूरज उगा, और कानून ने अपनी कार्रवाई पूरी की। जलपान से ठीक पहले, 2001 में हुए संसद हमले के मुख्य आरोपी अफजल गुरु को गुपचुप तरीके से फाँसी दे दी गयी और उसकी लाश को तिहाड़ जेल में गाड़ दिया गया। क्या उसे मकबूल बट्ट के ठीक बगल में दफनाया गया? (जो एक अन्य कश्मीरी था जिसे 1984 में तिहाड़ जेल में फाँसी दी गयी थी। कल ही कश्मीर की जनता उसकी बरसी मनाएगी।) अफजल की पत्नी और उसके बेटे को सूचित नहीं किया गया। गृह सचिव ने समाचार माध्यमों को बताया कि "अधिकारियों ने उसके परिवार को इसकी सूचना स्पीड पोस्ट और रजिस्टर्ड डाक से दे दी है" और "अधिकारियों ने जम्मू-कश्मीर के पुलिस महानिदेशक को इस बात की जाँच करने को कहा है कि उन्हें सूचना मिली या नहीं।" क्या फर्क पड़ता है, आखिर वे एक कश्मीरी आतंकवादी के परिवार ही तो हैं।

राष्ट्र की इस अनोखी एकता, कम से कम राजनीतिक पार्टियों की एकता के इस मौके पर काँग्रेस, भाजपा और सीपीएम ('देरी' और 'समय' को लेकर छोटे-मोटे मतभेदों को छोड़ दिया जाय तो) कानून के शासन का उत्सव मनाने के लिए एक मंच पर आ गये। राष्ट्र का विवेक जो आजकल टेलीविजन स्टूडियो से सीधे प्रसारित होता है, उसने हम लोगों के ऊपर अपनी सामूहिक बौद्धिकता का प्रहार किया- धार्मिक भावोद्रेक और तथ्यों पर नाजुक पकड़ का प्रचलित कॉकटेल। हालाँकि वह आदमी मर गया और चला गया, बुजदिल शिकारियों कि तरह उन्होंने एक दूसरे की जरूरत महसूस की। शायद इसलिए कि अपने दिल की गहराइयों में उन सबको पता था कि वे एक बहुत ही भयंकर गलत काम के लिए एकजुट हुए हैं।

## सच्चाई क्या है?

13 दिसम्बर 2001 को पाँच हथियारबंद लोग संसद के गेट से विस्फोटक पदार्थों से भरे एक एम्बेसडर कार में बैठ कर घुसे। जब उनको रोका गया तो वे कार से बाहर निकले और गोली चलाने लगे। उन लोगों ने आठ सुरक्षाकर्मियों और एक माली की हत्या कर दी। उसके बाद हुई गोलाबारी में सभी पाँच हमलावर मारे गये। पुलिस की हिरासत में अफजल ने जो अनेक आत्मस्वीकृतियाँ की थीं, उनमें से एक में उसने हमलावरों की पहचान मोहम्मद, राना, रजा, हमजा और हैदर के रूप में की थी। बस इतनी ही बात है जो हम उन लोगों के बारे में जानते हैं। तत्कालीन गृह मंत्री लाल कृष्ण आडवानी ने कहा था कि "देखने में वे पाकिस्तानी लगते हैं।" (उन्हें तो जानना ही चाहिए कि पाकिस्तानी कैसे दीखते हैं? आखिर वे खुद भी तो सिंधी हैं।) केवल अफजल की आत्मस्वीकृति के आधार पर (जिसे सर्वोच्च न्यायालय ने 'खामियाँ' और 'कार्यवाही संबंधी बचाव की अवहेलना' कहते हुए खारिज कर दिया था) भारत सरकार ने पाकिस्तान से अपना राजदूत वापस बुला लिया था और पाकिस्तान की सीमा पर पाँच लाख सैनिकों की तैनाती कर दी थी। नाभिकीय युद्ध की भी चर्चा चली थी। विदेशी दूतावासों ने यात्रा सम्बन्धी हिदायतें जारी की थी और दिल्ली से अपने कर्मचारियों को वापस बुला लिया था। महीनों गतिरोध कायम रहा और भारत को हजारों करोड़ का नुकसान उठाना पड़ा।

14 दिसंबर 2001 को दिल्ली पुलिस के स्पेशल सेल ने दावा किया कि उसने मामले का सुराग पा लिया है। 15 दिसंबर को उसने इस मामले के 'आला दिमाग' प्रोफेसर एसएआर गिलानी को दिल्ली से तथा शौकत गुरु और अफजल गुरु को श्रीनगर की फल मण्डी से गिरफ्तार किया। बाद में उन्होंने शौकत की पत्नी अफसाँ को भी गिरफ्तार किया। मीडिया ने जोशोखरोश के साथ स्पेशल सेल के विवरण को प्रसारित किया। कुछ हेडलाइन थे- 'दिल्ली विश्वविद्यालय का प्रवक्ता आतंक का सूत्रधार था', 'विश्वविद्यालय के डॉन ने फिदायीन का दिशानिर्देश किया था', 'खाली समय में आतंक की शिक्षा देता था डॉन।' जी टीवी ने 13 दिसम्बर के नाम से एक डाक्यूड्रामा प्रसारित किया जो एक ऐसी पुनर्रचना थी जिसको 'पुलिस द्वारा दाखिल किये गये आरोप-पत्र की सच्चाई' पर आधारित होने का दावा किया गया था। (अगर पुलिस की कहानी ही सच है, तो फिर अदालतें किस काम के लिए हैं?) तब के प्रधानमंत्री वाजपेई और लाल कृष्ण आडवाणी ने इस फिल्म की सरेआम तारीफ की थी। सर्वोच्च न्यायालय ने इस फिल्म के प्रदर्शन पर रोक लगाने की माँग को यह कहते हुए

खारिज कर दिया था कि मीडिया न्यायधीशों को प्रभावित नहीं करेगी। फास्ट ट्रैक कोर्ट द्वारा अफजल, शौकत और गिलानी को फाँसी की सजा सुनाये जाने से कुछ ही दिन पहले इस फिल्म का प्रसारण किया गया था। इसके बाद उच्च न्यायालय ने 'मास्टर माइंड' प्रोफेसर एसएआर गिलानी और अफसाँ गुरू को आरोपों से बरी कर दिया। सर्वोच्च न्यायालय ने उनकी रिहाई को बरकरार रखा। लेकिन 5 अगस्त 2005 को अपने फैसले में उसने मुहम्मद अफजल को तिहरे आजीवन कारावास और दोहरे मृत्युदंड की सजा सुनाई।

कुछ वरिष्ट पत्रकारों द्वारा बोले गये इस झूठ के उलट, जिनके बारे में वे ही अधिक बेहतर जानते होंगे, सच्चाई यह है कि "जिन आतंकवादियों ने 13 दिसम्बर 2001 को संसद भवन में बवंडर किया" अफजल गुरु उनमें शामिल नहीं था और न ही उनके साथ था जिन्होंने "सुरक्षा कर्मियों पर खुली गोलीबारी की और जाहिरा तौर पर मारे गये 6 सुरक्षा कर्मियों में से 3 की हत्या की।" (यह बयान भाजपा के राज्यसभा सांसद चन्दन मित्रा ने 7 अक्टूबर 2006 को द पायनियर में दिया।) यहाँ तक कि पुलिस के आरोप पत्र में भी उस पर यह आरोप नही था। सर्वोच्च न्यायालय का फैसला है कि सबूत परिस्थितिजन्य है -"षडयंत्रों के अधिकतर मामलों की तरह ही न तो यहाँ आपराधिक षडयंत्र के सबूत हैं और न ही हो सकते हैं।" लेकिन इसके आगे उसने कहा कि "यह घटना जिसके चलते होनेवाली भारी जनहानि ने सारे राष्ट्र को झकझोर कर रख दिया और समाज के सामूहिक विवेक को तभी संतुष्टि मिलेगी यदि गुनहगार को मृत्युदंड दिया जाय।"

संसद हमले के मामले में हमारे सामूहिक विवेक को किसने निर्मित किया? क्या ये वे तथ्य हैं जिन्हें हम अखबारों से बीनते-बटोरते हैं? या उन फिल्मों से जिन्हें हम टीवी पर देखते हैं?

कुछ ऐसे लोग है जो यही दलील देंगे कि न्यायालय ने एसएआर गिलानी को बरी कर दिया और अफजल को अपराधी ठहराया इससे यह सिद्ध होता है कि न्यायिक प्रक्रिया मुक्त और निष्पक्ष थी। क्या ऐसा था?

फास्ट-ट्रैक अदालत में मई 2002 में सुनवाई शुरू हुई। तब दुनिया 9/11 के बाद फैले उन्माद से हिली हुई थी। अमरीकी सरकार समय से पहले ही अफगानिस्तान में मिली अपनी 'जीत' की उम्मीद लगाये हुए थी। गुजरात में नरसंहार जारी था। और संसद हमले के मामले में यकीनन कानून अपनी प्रक्रिया अपना रहा था। आपराधिक मामले की निर्णायक घड़ी में, जिस समय साक्ष्य प्रस्तुत किये जाते हैं, जिस समय गवाहों से जवाब तलब किये जाते हैं, जिस समय दलीलों कि बुनियाद रखी जाती है (उच्च न्यायालय और सर्वोच्च न्यायालय में आप सिर्फ कानून के मुद्दों पर ही बहस कर सकते हैं, आप कोई नया साक्ष्य प्रस्तुत नहीं कर सकते) उस समय कड़ी सुरक्षा वाली तन्हा कोठारी में बंद अफजल गुरू का कोई वकील नहीं था। अदालत द्वारा दिया गया एक कनिष्ठ वकील अपने मुवक्किल से एक बार भी जेल में मिलने नहीं गया। उसने अफजाल के बचाव में कोई भी गवाह पेश नहीं किया और न ही अभियोजन पक्ष के गवाहों से कोई जबाब-तलब किया। न्यायाधीश ने ऐसी परिस्थिति के बारे में कुछ भी कर पाने से अपनी असमर्थता जाहिर की।

यहाँ तक कि आज भी यह मामला बिखरा हुआ था। इसके बहुत से उदाहरणों में से कुछ यूँ हैं-

पुलिस ने अफजल को कैसे पकड़ा? उन्होंने कहा कि एसएआर गिलानी के जरिये वे उस तक पहुँचे। लेकिन अदालत के रिकार्ड बताते हैं कि अफजल की गिरफ्तारी का सन्देश गिलानी को उठाये जाने से पहले ही आ गया था। उच्च न्यायालय ने इसे 'महत्वपूर्ण विरोधाभास' बताया लेकिन इसे यूँही छोड़ दिया।

अफजल के खिलाफ दोष सिद्ध करने वाले दो खास सबूत थे उसकी गिरफ्तारी के समय जब्त किया गया सेलफोन और लैपटॉप। गिरफ्तारी के कागजात पर गिलानी के भाई बिस्मिलाह ने हस्ताक्षर दिल्ली में किये थे। जब्ती के कागजात पर जमू-कश्मीर के दो पुलिस ने हस्ताक्षर किये थे जिनमें से एक उन उत्पीड़कों में से था जिन्होंने अतीत में अफजल का उस दौरान उत्पीड़न किया था जब उसने 'उग्रवादी' के रूप में आत्मसमर्पण किया था। कम्पूटर और सेलफोन को सील नहीं किया गया था जबकि साक्ष्यों को सील करना जरूरी होता है। सुनवाई के दौरान यह सामने आया कि लैपटॉप की हार्ड डिस्क का इस्तेमाल गिरफ्तारी के बाद भी किया गया था। इसमें केवल गृह मंत्रालय के फर्जी पास और फर्जी पहचानपत्र थे जिसे आतंकवादियों ने संसद में घुसने के लिए इस्तेमाल किया था और जी टीवी की संसद भवन की एक वीडियो क्लिप थी। तो पुलिस के मुताबिक दोषी साबित होने के लिए जरूरी, इन थोड़े से सबूतों को छोडकर बाकी सारी सूचनाएँ अफजल ने मिटा दी थी और वह इन्हें गाजी बाबा को सौंपने जा रहा था, जिसे

***...शेष पृष्ठ 63 पर***

# आधार क्यों जरूरी है?

**–राम कृष्णस्वामी**

आधार/एकल पहचान पत्र (यूआईडी)का विरोध कर रहे आंदोलनकारी पिछले तीन सालों से यह दलील दे रहे हैं कि यह सांप्रदायिक हमले की ओर ले जा सकता है, गैरकानूनी प्रवासियों की मदद कर सकता है, निजता में दखलंदाजी कर सकता है, असंसदीय है, इसे संसद से स्वीकृति नहीं मिली है, गैरकानूनी है, इत्यादि। फिर भी एकल पहचान प्राधिकरण (यूआईडीएआई) और संप्रग नेतृत्व द्वारा इन सभी आपत्तियों की अनसुनी की गयी।

साथ ही, आधार अनिवार्य नहीं है और इसीलिए कहा गया कि ये आपत्तियाँ अमान्य हैं। मध्यम और उच्च वर्ग के भारतीय यूआईडी की बहस पर चुप्पी साधे रहे, क्योंकि इससे उनके ऊपर जरा भी प्रभाव नहीं पड़ता। यूआईडी नामांकन केन्द्रों पर लोगों की लंबी कतारों को देखने से इस धारणा की पुष्टि होती है।

नंदन नीलकानी और यूआईडी महानिदेशक आर एस शर्मा ने बार-बार राष्ट्र को कहा कि यूआईडी, जिसे अब आधार कहा जाता है, बाध्यकारी नहीं है। फिर भी, वे कहते हैं कि एक समय बाद यह सर्वव्यापी भी हो सकता है, जब सेवा देने वाली संस्थाएँ सेवा लेने के लिए इसे अनिवार्य बनाने पर जोर डालें। नंदन नीलकानी के ही शब्दों में-- "हाँ, यह स्वैच्छिक है। लेकिन सेवा देने वाले इसे बाध्यकारी बना सकते हैं। आने वाले समय में, मैं इसे अनिवार्य नहीं कहूँगा। इसकी जगह मैं कहूँगा कि यह सर्वव्यापी हो जायेगा।"

जबसे भारत सरकार ने गरीब और हाशिये पर धकेल दिये गये लोगों के लिए एकल पहचान संख्या के विचार से खेलना शुरू किया, तभी से राष्ट्र को यही बताया जाता रहा कि यह बाध्यकारी नहीं है।

कभी इस पर आश्चर्य हुआ कि क्यों?

एक सवाल आन्दोलनकारियों ने कभी नहीं पूछा कि "आधार अनिवार्य क्यों नहीं है?"

इसका कारण बहुत साफ है और लगातार हम सब की आँखों में घूरता रहा है, फिर भी शायद किसी ने यह सवाल नहीं उठाया। आज क्या हो रहा है और क्यों हो रहा है, उस पर यह सवाल कुछ और रोशनी डालता है।

सरसरी तौर पर देखने से ही इन दोनों मंसूबों में भारतीय इतिहास के सबसे विद्वान मूर्ख तुगलक की प्रतिध्वनि सुनाई देती है। इस तरह के मंसूबों का मकसद महान राष्ट्र का निर्माण करना नहीं होता, वास्तव में ये कंगालों की पीढ़ी तैयार करने का अचूक तरीका हो सकते हैं। गरीबी तब तक "अच्छी" थी जब तक गरीबों में उससे संघर्ष करने और ऊपर उठने की गरिमा कायम थी। जबकि कंगालीकरण उस चेतना और आत्म-गौरव को ही मार देगा जो एक अरब से भी अधिक आबादी वाले एक राष्ट्र के कायम रहने और आगे बढ़ने के लिए बहुत ही जरूरी है।

मानव जाति का इतिहास गवाह है कि जो लोग मालिक की स्थिति में थे, वे हमेशा अपने गुलामों के लिए किसी न किसी तरह का पहचान-चिह्न चाहते थे। सिर्फ गुलाम और उसके परिवार का नाम लिखना ही पर्याप्त नहीं था। गुलामों को नाव में लादते समय मालिक उनकी बाँहों को दाग कर कोई चिह्न बना देते थे। रूसी साम्राज्य के जमाने में कतोर्शिनकी (सार्वजनिक गुलामों) को भयानक तरीके से चिह्नित किया जाता था- उनके ललाट और गाल पर गुलाम शब्द गोद कर उस पर बारूद रगड़ दिया जाता था। कई देशों में गुलामों का सिर मूड कर सिर्फ एक चुटिया छोड़ दी जाती थी। सिर मूड़ना, पुंसत्व-हरण, यानी मर्दानगी, सत्ता और आजादी छीन जाने का प्रतीक था। वर्चश्व के संबंधों के सबसे चरम रूपों में से एक है गुलामी, जिसमें मालिक के लिए सम्पूर्ण सत्ता और गुलाम के लिए पूरी तरह सत्ताहीनता की सारी हदें पार कर ली जाती हैं।

भारत में, वर्तमान सन्दर्भ में राजसत्ता "मालिक" है जो कहती है कि गरीबों को जिन्दा रहने के लिए सिर्फ 32 रुपया ही काफी है, जबकि पूँजीवादी मालिक 500 रुपये की थाली का खर्च उठा सकते हैं। भारतीय जनता "गुलाम" है जो गरीबी रेखा के नीचे जीवन-यापन करती है, जिनको कहा गया है कि जब तक तुम्हारे पास ऊँगली की छाप सहित एक नंबर नहीं है, तब तक तुमको सरकारी सस्ते गल्ले की दुकान से तीन रुपये किलो चावल पाने का हक नहीं है। भारत में एक गुलाम सामाजिक रूप से मृत प्राणी है, जिसकी पहचान मालिक द्वारा जारी की गयी एक संख्या से की जा सकती है, न कि उसके

3 पर

पिता, माता या दुनिया के साथ जोड़ने वाली कोई दूसरी सामाजिक कड़ी से।

यह सवाल अक्सर सामाजिक कार्यकर्ताओं से पूछा जाता रहा है कि "आपको निजता के बारे में परेशान होने की क्या जरूरत है, अगर आपके पास छुपाने के लिए कुछ है ही नहीं?" इसी सिद्धांत से यह बात भी तो निकलती है कि "जिन लोगों के पास छुपाने के लिए कुछ हो, वे निश्चय ही कोई ऐसी विशिष्ट पहचान संख्या नहीं चाहते जो उनके जैविक मापकों, जैसे ऊँगली की छाप या पुतलियों के फोटो से जुड़ा हो।"

हाल ही में किये गये स्टिंग ऑपरेशन से पता चला कि कई बैंक भ्रष्ट लोगों को बिना उनकी पहचान खोले, उनकी हराम की काली कमाई सफेद करने की सहूलियत मुहैय्या करते हैं। कमाल है कि बैंकर काला धन सफेद बनाने में भ्रष्ट लोगों की इतनी आसानी से मदद करते है। अब कल्पना कीजिए कि भारत के भ्रष्ट लोग आधार को अनिवार्य बनाये जाने पर क्या प्रतिक्रिया देंगे। कानून का पालन करवाने वाली संस्थाएँ छुपाये गये धन को बेनकाब करने में आधार संख्या और उससे सम्बंधित जैविक माप का इस्तेमाल करेंगी और वह भी केवल भारत में ही नहीं, बल्कि स्विस बैंकों और सिंगापुर के बैंकों में भी, क्योंकि आजकल सिंगापुर गैरकानूनी धन छुपाने वालों का नया स्वर्ग बन गया है।

अगर समय के साथ आधार को बाध्यकारी बना दिया गया, तो इससे सम्बंधित जैविक माप का इस्तेमाल सारे भ्रष्ट नौकरशाहों, राजनेताओं और पूँजीपतियों का भंडाफोड करने में हो सकता है। तब उनकी हालत खस्ता हो जायेगी। तय है की सरकार ऐसे दानव को सुलभ बनाना नहीं चाहती। इसीलिए आधार बाध्यकारी नहीं है। इसलिए कार्यकर्ताओं को विशिष्ट पहचान संख्या प्राधिकरण के अध्यक्ष और संप्रग सरकार को खुली चुनौती देनी चाहिए कि अगर हिम्मत है तो वे आधार को सबके लिए बाध्यकारी बनाएँ और देश को भीतर से खोंखला कर रहे इन कीड़ों को नेस्तनाबूद करने में मदद करें।

नीलकानी महोदय, एक बार आपने पूछा था कि "मैं क्या हूँ? कोई विषाणु?"

आधार को सभी भारतीयों के लिए बाध्यकारी बना कर, चाहे अमीर हो या गरीब, आप साबित करो कि विषाणु नहीं हो, और दिखाओ कि तुम्हारे "कल्पना का भारत" राष्ट्र की सच्ची सेवा का प्रयास है।

जाहिर है कि आप एक ऐसी व्यवस्था मुहय्या नहीं करना चाहते जहाँ सभी लोग बराबर हों, बल्कि कुछ लोगों को ज्यादा बराबर बनाना चाहते हैं, जिन्हें आधार को नकारने का अधिकार हो। लेकिन पक्के तौर पर जान लीजिए कि जिस दिन आप का प्राधिकरण और भारत सरकार आधार को बाध्यकारी बनाती है, उसी दिन यह राष्ट्र, यानि धनाढ्य और शक्तिशाली वर्ग आप लोगों को विशिष्ट पहचान संख्या का असली रंग दिखा देगा।

एक राष्ट्र के रूप में हम सब एकजुट हो कर इस सरकार से सवाल कर सकते हैं

"आधार बाध्यकारी क्यों नहीं है?"

धनवानों और वंचितों में भेदभाव करके आधार एक नयी तरह की जाति व्यवस्था क्यों बना रही है, जो पहले से ही खंडित देश को और अधिक तोड़ने का काम करेगी?

आधार इसलिए बाध्यकारी नहीं है, ताकि इसका फायदा उठाते हुए नीच कोटि के अपराधी, जैसे हत्यारे, बलात्कारी, गबन करने वाले, टैक्स चोर, आयकर जालसाज, भ्रष्ट अफसर और नेता, और यहाँ तक कि कोई आतंकवादी भी बेधड़क कानून को ठेंगा दिखाते रहें।

**आधार का विरोध करने वाले लोगों के कुछ मशहूर कथन**

"विशिष्ट पहचान योजना भारतीय नागरिकों की निजता छीन लेगी" -मैथ्यू थॉमस

"निजता ऐसी चीज नहीं जिसे लोग बिना इससे वंचित हुए महसूस कर सकें। इसे खत्म कर दो और आप मनुष्य होने के लिए सबसे जरूरी चीज को नष्ट कर देंगे।" -फिल बूथ, नो टू आई डी।

"आधार परियोजना भारतीय संविधान को मुर्दा दस्तावेज में तब्दील कर देगी" -एस जी वोम्बातकेरे

"यूआईडी सांप्रदायिक हमले में सहायक होगा।" -अरुणा राय और निखिल डे, राष्ट्रीय सलाहकार समिति के सदस्य

"आधार बाध्यकारी नहीं है -यह तो बस स्वैच्छिक "सहूलियत" है। इसके प्राधिकरण की टिप्पणी में यह जोर देकर कहा गया है कि "पंजीयन करवाना बाध्यकारी नहीं होगा।" लेकिन एक चाल चली गयी है- "जिन सहूलियतों और सेवाओं को यूआईडी से जोड़ा जाएगा वे इस संख्या की माँग को सुनिश्चित कर सकते हैं।" यह किसी गाँव के कुएँ में जहर घोल कर उस गाँव वालों को पानी की बोतल बेचने और यह दावा करने के सामान है कि लोग स्वेच्छा से पानी खरीद रहे हैं। अगला वाक्य भी अमंगलकारी है -"हालाँकि यह सरकार

***...शेष पृष्ठ 66 पर***

फिल्म समीक्षा

# मटरू की बिजली का मंडोला : एक मनगढंत नजारा

**–पार्थ चटर्जी**

अड़तालीस वर्षीय विशाल भारद्वाज आजकल व्यावसायिक हिंदी सिनेमा की सबसे बड़ी उम्मीद माने जाते हैं। मुंबई के फिल्म जगत में महान भारतीय जनता की जो फंतासी रोज-बरोज रची जाती है और जहाँ यथार्थ चित्रण के प्रति ललक का बस इतना ही मकसद होता है कि सच्चाई को कैसे झुठलाया और विकृत किया जाय, वहाँ व्यावसायिक फिल्मों की कामयाबी के लिए तमाम जरूरी खूबियाँ भारद्वाज को हासिल हैं।

निर्देशक के रूप में भारद्वाज की नयी पेशकश है *मटरू की बिजली का मंडोला*। फिल्म का नाम बहुत ही ध्यान खींचने वाला है। इसके कलाकारों और तकनीशियनों की टीम भी बेहतरीन है और इसकी कहानी भी काफी गुमराह करने वाली है। यह बर्तोल्त ब्रेख्त के उत्कृष्ट व्यंग्य नाटक *''हेर पुन्तिला एण्ड हिज मैन मात्ती''* का रूपान्तर है, हालाँकि इसके लिए मूल लेखक के प्रति आभार नहीं जताया गया है। सबसे अच्छी बात यही है कि इसमें ब्रेख्त का नाम नहीं घसीटा गया, क्योंकि इस फिल्म में उनके इस नाटक और नाटक के मूल भाव को बुरी तरह विकृत किया गया है।

फिल्म की शुरुआत एक जबरदस्त हास्यपूर्ण दृश्य से होती है, जहाँ खण्डित व्यक्तित्व वाला बड़ा पूँजीपति, हैरी मंडोला (पंकज कपूर) और उसका खिदमतगार मटरू (इमरान खान) जो वास्तव में भूदास है, लहलहाती फसलों के बीच खेतों में बने लाइसेंसी ठेके से 'गुलाबो' नामक देशी दारू की बोतल खरीदने का प्रयास करते हैं। जब दूकान के भीतर से ठेके का कर्मचारी (जो सामने नहीं आता) उन्हें बताता है कि आज 'ड्राई डे' है, तो मालिक-नौकर दोनों अपनी गाड़ी दुकान में घुसा देते हैं और उस झोंपड़ी नुमा दूकान को तहस नहस कर देते हैं। दुकानदार जान बचाने के लिए भागता है। वे बोतलों का सलीके से उद्धार करते हुए उन्हें कार में रखते हैं और उसमें बैठकर वहाँ से रफू-चक्कर हो जाते हैं। जब वे दोनों धुंधलके में अगल-बगल खड़े होकर "पेशाब करते" हुए आपस में बतियाते हैं, तो उनकी बातों से दर्शकों को पता चलता है कि मंडोला ने मटरू को उसके पिता द्वारा डेढ़ लाख रूपये का कर्ज न चुका पाने के एवज में अपना नौकर बना कर रखा है। 21वीं सदी के ग्रामीण भारत में यह कोई सामान्य स्थिति नहीं है।

भारद्वाज और उनके सह-पटकथा लेखक अभिषेक चौबे द्वारा ब्रेख्त के "भारतीयकरण" का यह पहला ही प्रयास है। यह फिल्म ढाई घंटे तक सरपट आगे बढ़ती है जिस दौरान दिखाने का दावा तो कुछ और किया जाता है, लेकिन वास्तव में दिखाया जाता है कुछ और ही।

परिवेश, लोग-बाग और उनकी बोली तो पूरी तरह हरियाणा की तरह है, लेकिन वास्तव में है गुजरात; निर्देशक ने गुजरात पर्यटन को श्रेय देते हुए उसे धन्यवाद ज्ञापन भी किया है। फिल्मांकन की जगह गुजरात का ग्रामीण इलाका चुनने और एक पगलेट करोड़पति को उसका केन्द्र बिंदु बनाने से कुछ और भी ध्वनित होता है, लेकिन इसकी चर्चा बाद में। इस वक्त हम केवल इस फिल्म और इसके मंसूबों पर ही ध्यान केंद्रित करेंगे। मंडोला गाँव की लगभग सारी जमीन का मालिक छोटे कद का, घुचघुची आँखों वाला दढ़ियल मंडोला है। मौसमी फसलों से लहलहाते खेतों के बीच इश्तहार का एक बहुत बड़ा तख्ता यह बताता है कि मंडोला एक भवन निर्माण कम्पनी का मालिक है और उस तख्ते के अगले हिस्से में उसकी आदमकद 'तस्वीर' उसकी धाकड़ छवि पेश करती है। इस सारगर्भित दृश्य के जरिये भारद्वाज ने अपनी बात बहुत ही स्पष्ट रूप से कह दी है। कैमरे के साथ रंगरलियों और एक-दो जगह विशेष प्रभावों को छोड़ दें, तो फिल्म का यह दृश्य इसकी दुर्लभ सिनेमाई झलकियों में से एक है।

मंडोला और मटरू के बीच अनोखे, कुछ-कुछ मनमोहक और भावुक सम्बन्ध को एक शुरुआती दृश्य में ही दिखाया गया है, जहाँ गाँव के लोग भूस्वामी के खिलाफ प्रदर्शन करते हैं। प्रदर्शन का नेतृत्व मटरू और छद्म भेषधारी मंडोला कर रहे हैं। यह विश्वास करना थोड़ा कठिन है कि गाँव वाले उसे पहचान क्यों नहीं पाते और काँव-काँव, झाँव-झाँव करता जनसमूह उस पूँजीपति के महलनुमा मकान के गेट पर जाकर रुक जाता है। मंडोला जब शाम के झुटपुटे में अपने गेट के भीतर फिसल कर गिर जाता है, तब वह मटरू से साजिशाना लहजे में कहता है कि "मै पिछले दरवाजे से अंदर जाऊँगा, अपनी पोशाक बदलूँगा और अपने असली रूप में बहार निकलूँगा। तुम नेता के रूप में उनकी माँग हमारे सामने रखना और मै झटपट उन्हें मान लूँगा।"

मटरू वैसे एक पढ़ा-लिखा भूदास है। फिल्म के लगभग

6 पर

आखिर में वह अपनी प्रेमिका बिजली से कहता है कि वह दिल्ली विश्वविद्यालय में जाकर पढ़ाएगा, हालाँकि उसे कभी कोई किताब पढ़ते हुए नहीं दिखाया गया है, गंभीर किताब की तो बात ही क्या। संभव है कि ऐसा समाज के बहुसंख्यक लोगों के सम्मान में किया गया हो जो पाठ्य पुस्तकों को (आवश्यक बुराई मानते हुए) छोड़ दिया जाय तो बाकी सारी किताबों को झमेला समझते हैं। वास्तव में मटरू एक गुप्त किसान नेता माओ के छदम वेश में है (जाहिर है कि यह माओ त्से-तुंग का उपहास है) और मंडोला गाँव के निवासियों को सलाह देता है कि वे बदमाश हैरी का मुकाबला करें, जो एक प्रभावशाली नेता चौधरी देवी (शबाना आजमी) के साथ साँठ-गाँठ करके गाँव की जमीन के बहुत बड़े रकबे को विशेष आर्थिक क्षेत्र यानी सेज में बदल देना चाहता है।

चौधरी देवी मंडोला की गुप्त प्रेमिका भी है। वह चाहती है कि अपने मसखरे बदमाश बेटे बादल (आर्यन बब्बर) की शादी मंडोला की बिगडैल, सुन्दर और भोलीभाली बेटी बिजली (अनुष्का शर्मा) से करके अपने खुद के प्यार पर मुहर लगा दे। बिजली के प्रति अपने प्यार जताने के लिए बादल, जुलू नर्तक-नर्तकियों की एक टोली ले आता है जो अपने जोरदार और जोशीले नृत्यों से उसका मनोरंजन करते हैं। बादल बिजली से कहता है-- "ये (दक्षिण) अफ्रीका के जुलू नर्तक हैं। मेरे दोस्त ने इन्हें मेरे हाथों बेच दिया है, लेकिन इन्हें पता नहीं कि ये बिक चुके हैं।" बादल का हास्य-बोध विकासशील देशों के शासक वर्ग से पूरी तरह मेल खाता है। लेकिन यहाँ मुद्दा तो 21वीं सदी में गुलामों के व्यापार का है। निश्चय ही भारद्वाज ने दर्शकों को विनोदपूर्ण राहत देने के लिए ही जुलू नर्तकों को खरीदा/उतारा है, लेकिन यह राहत ब्रेख्त की शैली का नहीं है, जिसमें ऐसे दृश्यों का प्रयोग "विराग का प्रभाव" उत्पन्न करने के लिए होता है।

मटरू अपने भाषणों से गाँव के लोगों में गर्मजोशी पैदा करता रहता है, वे लाल झंडे लिए होते हैं और "क्रांतिकारी" नारे लगाते हैं। लेकिन वास्तव में वे हैरी मंडोला से भयभीत होते हैं, जैसा कि व्यावसायिक हिंदी सिनेमा के सौंदर्यबोध के लिहाज से उन्हें होना ही चाहिए। आखिरकार वह उनका दयालु और सरपरस्त माई-बाप जो है, चाहे वह उनका बेड़ा गर्क करने पर ही आमादा क्यों न हो। इसी तरह मुआवजे को लेकर भी व्यवस्था (मंडोला और चौधरी देवी) तथा गाँव वालों के बीच खींचातानी होती है। हो सकता है कि यह नंदीग्राम और सिंगुर की याद दिलाने के लिए किया गया हो। राजनीतिक दाँव-पेंच कुछ ज्यादा ही खींच-तान कर दिखाया गया है। वैसे उद्योगपति-नेता गंठजोड़ अपने स्वार्थ के लिए जिस तरह पुलिस और प्रशासन का इस्तेमाल करता है उसे यहाँ तथ्यपरक ढंग से दिखाया गया है। हालाँकि फिल्म का अंत एक झूठी उम्मीद के साथ होता है, लेकिन फिल्म में कई बार ठण्डे तरीके से इस नाउम्मीदी को दुहराया गया है कि बेशर्म खलनायकों के हाथों का खिलौना बन चुकी सरकार से जीत पाना असंभव है।

मंडोला का दो सीट वाला हेलिकोप्टर जिस रात दुर्घटनाग्रस्त होता है, उसके अगले दिन का एक दृश्य है। रात के इस दृश्य को हॉलीवुड की विशेषज्ञता और उसी जैसे विशेष प्रभावों के साथ फिल्माया गया है, लेकिन इसके बाद का दृश्य राजनीतिक रूप से अर्थपूर्ण है। काला चश्मा पहने एक अंधा लड़का विभिन्न चैनलों से आये हुए पत्रकारों के दलबल के सामने बयान देता है कि पिछली रात वह फारिग होने के लिए खेत में गया था और वहाँ दो घंटे तक रहा, क्योंकि उसने जो चिकन करी खायी थी वह पची नहीं थी। वहाँ उसने एक भारी धमाका सुना। एक टीवी पत्रकार ने अपने दर्शकों के सामने उस बच्चे को पेश करते हुए बताया कि उस अनजान उड़ती हुई चीज (उड़न तस्तरी) को देखने वाला यही अकेला व्यक्ति है। बच्चा उस पत्रकार को बीच में टोकता है, अपना चश्मा उतारता है और कहता है कि वह पत्रकार एकदम बेवकूफ है जो रात के समय एक अंधे आदमी से उड़ती हुई चीज देख पाने की उम्मीद करता है जबकि उसे कुछ भी दिखाई देता। वहाँ उपस्थित अधिकारीगण नाटक के स्वगत कथन वाली शैली में असली बात बताते हैं कि मंडोला के हेलिकॉप्टर दुर्घटना से जुड़े हर सबूत को मिटा डालने के लिए पुलिस वाले कैसे पूरी रात काम करते रहे। अचानक मंडोला और मटरू कहानी को आगे बढाने के लिए पैराशूट से कूदते हैं।

बिजली मटरू से प्यार करती है तथा प्रेमी और पति दोनों रूप में उसे पाना चाहती है। मंडोला जब भी शराब पीना छोडता है तो वह गहरी अन्यमनस्कता के रोग से ग्रस्त हो जाता है और उसे ऐसा आभास होता है कि उसने लाल भैंसा देखा है। वास्तव में वह गुलाबो (शराब) है। जब मंडोला एक मनोचिकित्सक को दिखाने जाता है तो वह इस बात को छिपा नहीं पाता कि डॉक्टर की बीवी के साथ उसका "चक्कर" है। चौधरी देवी तत्काल अपने बेटे की शादी बिजली से कर देना चाहती है, ताकि वह अपनी व्यावसायिक योजनाएँ और राजनीतिक महत्त्वाकांक्षाएँ पूरी कर सके। बादल एकांत में स्वीमिंगपूल के पास मटरू और बिजली को भावविभोर होकर एक दूसरे को चुमते हुए देख लेता है। वह अपनी माँ को यह जानकारी देने दौडता है। यह सब जानने पर वह मजे लेते हुए मुस्कुराती है

और राजनीतिक रूप से समझदार माँ की तरह उससे कहती है कि आगे बढ़ो और बिजली से शादी करो। वह कहती है कि अरे शादी के बाद तो कुछ भी हो सकता है, और यह संकेत करती है कि जरूरी हुआ तो बिजली से छुटकारा भी पाया जा सकता है। चौधरी देवी मंडोला से प्रगाढ़ सम्बन्ध बनाना चाहती है, ताकि सेज की योजना को आगे बढ़ाया जा सके।

बिजली शादी में पी कर धुत्त हो जाती है। उसका बाप भी ऐसा जताता है कि वह नशे में चूर है और वहाँ हंगामा खड़ा करने का नाटक करता है। जब मंडोला को पता चलता है कि बिजली मटरू से प्यार करती है, तो वह शादी रोक देता है, चौधरी देवी को भगा देता है, गाँव की जमीन की लालच छोड़ देने का वादा करता है और बिजली की शादी मटरू से करवा देता है। मटरू को डर लगता है कि कहीं मंडोला इज्जत के नाम पर उसकी हत्या न करवा दे। तब मंडोला गाँव वालों को दिखाता है कि दारु की बोतल "गुलाबो" को झूठमूठ हिला रहा था और दरअसल उसकी सील भी नहीं टूटी है। इस तरह वह यह साबित करता है कि उसने सचमुच दारू पीना छोड दिया है। और अंत में हर व्यक्ति यह जान कर प्रसन्न हो जाता है कि मंडोला अचानक रूपांतरित हो कर एक नैतिक व्यक्ति बन गया।

## भ्रामक आख्यान

फिल्म को हॉलीवुड को टक्कर देने वाली, अलंकारिक शैली में चित्रित किया गया है। रात के समय का एक हास्यपूर्ण दृश्य खेतों में फिल्माया गया है, जहाँ लगता है कि मटरू उर्फ माओ लहलहाती फसलों के बीच में छुपा हुआ है। इसके लिए बहुत अच्छे तकनीक का सहारा लिया गया है। जब मटरू को ढूँढने के लिए पुलिस वाले और उनको रास्ता बताने के लिए बादल वहाँ आते हैं तो गाँव के लोग पहले उनके ऊपर गोबर फेंकते हैं और फिर पुराने जमाने के गुलेल से पत्थर मारते हैं। इस दृश्य का अंत मटरू को ढूँढ पाने में बादल और उसके गिरोह की असफलता के एक प्रहसन में होता है। सभी कलाकारों ने बखूबी अभिनय किया है, खास कर मंडोला के रूप में पंकज कपूर का अभिनय सबसे बेहतर है। वर्षों पहले जब वे राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय में थे, तब ब्रेख्त के इसी नाटक के हिन्दुस्तानी रूपान्तर चोपडा कमाल नौकर जमाल में उन्होंने हैरी पुन्तिला का अभिनय किया था। इस फिल्म में उनका अभिनय उससे थोड़ा ही अलग है। यहाँ शुरू से आखिर तक कर्कश गीत और धमाल नृत्य हैं जिनका इस्तेमाल शायद उस कथानक की गति को बनाए रखने के लिए किया गया है जो सारतः फर्जी है। कोई भी पूँजीपित हृदयपरिवर्तन करके अपने लिए आर्थिक और राजनीतिक तबाही को न्योता नहीं देगा। अधिक से अधिक वह भविष्य में सत्ता हासिल करने के लिए कुछ समय के लिए थोड़ा नरम रुख अपना सकता है।

व्यावसायिक हिन्दी सिनेमा चाहे जितना भी क्रांतिकारी वेश धारण करे, अंत में यह यथास्थिति का ही समर्थन करता है। सर्वश्रेष्ठ अभनेता राजकपूर से जब किसी ने पूछा कि समूचे हिन्दी सिनेमा उद्योग ने 1975-76 में आपातकाल के दौरान प्रधानमंत्री इंदिरा गाँधी का समर्थन क्यों किया था, तो उनका जवाब था कि "चाहे कॉंग्रेस हो या जनता, हम लोग हमेशा सरकार समर्थक ही रहेंगे।" '77 के चुनाव में जनता पार्टी ने कॉंग्रेस से सत्ता छीन ली। कोई वजह नहीं थी कि उसके बाद से हिन्दी सिनेमा उद्योग की राजनीतिक रुझान बदल जाये। अगर कोई विशाल भारद्वाज से पूछे कि उनका राजनीतिक ठिकाना कहाँ है, तो वे साफ-साफ यह बताएँगे कि कहीं नहीं। लेकिन यह भी सही है कि कोई फिल्म अपने दौर के सामाजिक और राजनीतिक वातावरण से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकती। *मटरू की बिजली का मंडोला* भी इसका अपवाद नहीं है।

कोई भी फिल्म सौंदर्यबोध और विचारधारा के मामले में किस दिशा में आगे बढ़े, यह उसके निर्माता पर निर्भर करता है। लोग शायद यह नहीं जानते कि भारद्वाज की शिक्षा-दीक्षा और राजनीति पृष्ठभूमि क्या है। वे उस दौर में दिल्ली के हिंदू कालेज में पढते थे, जब जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय में वामपंथी छात्र संगठन का बोल बाला था। उस दौरान दिल्ली विश्वविद्यालय में, जहाँ भारद्वाज पढ़ रहे थे, कॉंग्रेस समर्थित एनएसयुआई का प्रभाव था।

छात्र जीवन के दौरान वहाँ के सामाजिक-राजनीतिक वातावरण ने उन पर कितना प्रभाव डाला, यह एक विवाद का विषय है। उनकी शुरुआती फिल्म *मकबूल* (एक आशाजनक प्रयास) और *ओंकारा* (जोरदार प्रयास के बावजूद घिसीपिटी फिल्म) एक अनगढ़ शून्यवाद को प्रदर्शित करती है। ऐसा नहीं लगता कि वे राजनीति की प्रक्रिया में या उससे सम्बंधित समाजशास्त्र में या फिर उसके मनोविज्ञान में कोई रूचि रखते हों। इन फिल्मों की चालक-शक्ति बॉक्स ऑफिस पर ज्यादा से ज्यादा पैसा बनाने की उनकी क्षमता है, जो उनकी कहानी और विषयवस्तु के अनूठेपन के कारण सम्भव हुआ है। मकबूल विलियम शेक्सपियर के नाटक मैकबैथ पर आधारित है। यह उत्तर भारतीय अपराध-जगत के बॉस के निजी जीवन की जाँच-पड़ताल करते हुए उसकी मानसिकता को समझने का उनका पहला प्रयास है। इस ढंग की शुरुआती हिन्दी फिल्में, व्यावसायिक सफलता के बावजूद काफी सतही थीं।

*ओंकारा* जो अनुमानतः शेक्सपिअर के *ओथेलो* का रूपान्तर है, पश्चिमी उत्तर प्रदेश के आतताइयों की पृष्ठभूमि में फिल्माई गयी है। फिल्म में गंदी भाषा का जम के इस्तेमाल और इसके चरित्रों का "उद्दंड लोगों" के रूप में चित्रण किये जाने के बावजूद इसमें सारतत्व का अभाव है। इस फिल्म को यदि हिंसक सामाजिक वातावरण को दर्शाने वाले किसी न्यूजरील के रूप में देखा जाय तो यह उसका एकदम सटीक चित्रण करती है। लेकिन सिनेमाई शिल्प और नैतिक/नीतिगत उद्देश्यों पर पकड़ बना पाने में यह फिल्म कारगर नहीं रही है।

सिनेमाई भाषा के अभाव की समस्या *मटरू की बिजली का मंडोला* के साथ भी है। इसका निर्माण पुराने भारतीय जन नाट्य संघ (इप्टा) के मंचीय नाटकों की शैली में किया गया है, जिनके अंतिम दृश्य में सभी पात्रों का एक साथ मंच पर विराजमान होना अनिवार्य होता था। फिल्म के अंत में सभी पात्र चटकीली धुप में एक गीत गाते और नाचते हुए आते हैं, जिनके दोनों पार्श्व में लहलहाते खेत हैं। वास्तव में यह फिल्म संकटग्रस्त दुनिया के एक खतरनाक आदमी का सही-सही निरूपण नहीं करती, बल्कि उससे दर्शकों का ध्यान भटकाती है।

**(फ्रंटलाईन, 22 फरवरी, 2013 से साभार। अनुवाद- दिगम्बर)**

❑

## *पृष्ठ 59 का शेष... लोकतंत्र के लिए माकूल...*

अभियोग-पत्र में इस कार्रवाई का मुखिया बताया गया है।

अभियोजन पक्ष के एक गवाह कमल किशोर ने अफजल को पहचान लिया और अदालत से कहा कि उसने ही वह महत्वपूर्ण सिम कार्ड उसे बेचा था, जिसके जरिये 4 दिसम्बर 2001 को इस मामले के सभी अभियुक्त संपर्क में थे। लेकिन खुद अभियोजन द्वारा प्रस्तुत कॉल रिकॉर्ड यह दर्शाता है कि वास्तव में सिम कार्ड 6 नवंबर 2001 को ही चालू हुआ था।

ऐसी ही और भी कई बातें हैं, झूठ का अम्बार और मनगढंत सबूत। अदालत ने इस सब पर ध्यान दिया, लेकिन पुलिस को उनकी ओर से एक सौम्य सी झिड़की के सिवा कुछ नहीं किया गया। बस इतना ही।

और फिर पीछे की कहानी भी। कश्मीर में आत्मसमर्पण किये हुए अधिकांश उग्रवादियों की तरह अफजल एक आसान शिकार था- यंत्रणा, ब्लैकमेल और उत्पीड़न का भुक्तभोगी। अगर किसी को संसद हमले की गुत्थी सुलझाने में जरा सी भी दिलचस्पी है, तो उसे सबूतों के एक घने जंगल से होकर गुजरना होगा जो कश्मीर में एक धुंधले जाल की तरफ लेकर जाती है जो उग्रवादियों को आत्मसमर्पण कर चुके उग्रवादियों से, गद्दारों को पुलिस अफसरों से, विशेष अभियान दल को विशेष टास्क फोर्स से जोड़ती है और यही सिलसिला आगे, और आगे बढ़ती रहती है। और आगे और आगे।

लेकिन अब जबकि वह अफजल गुरु सूली पर लटका दिया गया है, मुझे उम्मीद है कि हमारा सामूहिक विवेक संतुष्ट हो गया है। या अब भी खून का हमारा प्याला आधा ही भरा है?

**(अँग्रेजी से अनुवाद : पारिजात)** ❑

## *पृष्ठ 62 का शेष... आधार क्यों जरूरी है...*

और रजिस्ट्रार को इस बात से रोकेगा नहीं कि वे पंजीयन को अनिवार्य बनायें।" -ज्याँ द्रेज, अर्थशास्त्र के मानद प्रोफेसर, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, राष्ट्रीय सलाहकार समिति के पूर्व सदस्य।

"नीलकानी का रिपोर्ट करने का तौर-तरीका इतिहास में अभूतपूर्व है, वे सीधे प्रधानमंत्री को रिपोर्ट करते हैं, और इस तरह सरकार के भीतर के सभी नियंत्रणों और संतुलनों को दरकिनार करते हैं।" -गृह मंत्री चिदंबरम

"यूआईडी एक कारपोरेट घोटाला है, जो सूचना प्रौद्योगिकी क्षेत्र में अरबों डॉलर झोंक रहा है।" -अरुंधती राय

"अगर सरकार इस देश को बेच रही है तो हम सबको कम से कम यह जानना चाहिए कि वह किसको बेच रही है।" -वीरेश मलिक

उँगलियों की छाप का सबसे प्रबल विरोध करने वाला कोई और नहीं, बल्कि खुद राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी थे, जिन्होंने कहा था कि "जेनेरल स्मट के नए कानून के बारे में हम पहले ही साफ हो लें। अब सभी भारतीयों की उँगलियों के छाप लिए जायेंगे अपराधियों की तरह। चाहे मर्द हों या औरतें। ईसाई विधि से की गयी शादी के अलावा कोई भी शादी वैध नहीं होगी। इस कानून के तहत हमारी पत्नियाँ और माताएँ वेश्या हैं और यहाँ हर मर्द हरामी है।"

लेकिन आज के शासकों में से आज कौन है जो महात्मा गाँधी को याद करता है, दक्षिण अफ्रीका में उन्होंने क्या कहा था, यह तो बहुत दूर की बात है।

**(काफिला ब्लॉग से साभार)** ❑

# सड़कों पर होने वाली मौत

**–शैलेन्द्र चौहान**

भारत के पूर्व गृह सचिव जी के पिल्लै के अनुसार, 'भारत में सड़क दुर्घटनाओं में हर साल एक लाख अड़तीस हजार लोग मारे जाते हैं, जबकि चरमपंथी हमलों में हर साल लगभग दो हजार लोग मारे जाते हैं। सड़क दुर्घटना सौ गुना ज्यादा बड़ी समस्या है इसलिये केंद्रीय गृह मंत्रालय को इसके बारे में चिंता करनी चाहिए।' उनका मानना है कि सरकार को इन दुर्घटनाओं से हर साल अरबों रुपयों का नुकसान होता है।

सड़क दुर्घटनाओं में हर साल लगभग 30 लाख लोग जख्मी होते हैं। उनमें से कई की नौकरी चली जाती है। फिर उन्हें बीमा की रकम देनी पड़ती है। इस तरह मानव संसाधन के नुकसान के अलावा देश की आर्थिक स्थिति पर भी इसका बुरा असर पड़ता है।

एक आकलन के मुताबिक इन दुर्घटनाओं से देश को कुल मिलाकर 20 अरब डॉलर सालाना का नुकसान होता है। गृह मंत्रालय को इस पर विशेष ध्यान देना चाहिए। इसके लिए बहुत जरूरी है कि यातायात पुलिस में भर्ती के समय काबिल लोगों का चयन किया जाय और फिर उन्हें सही प्रशिक्षण भी दिया जाय।

समाज के एक वर्ग में कानून का सम्मान या उसका डर कोई बहुत ज्यादा मायने नहीं रखता। देश में प्रचलित किसी भी कानून को तोड़ना लोग अपने सम्मान की बात समझते हैं। ट्रैफिक से लेकर अपराध तक यह कहा जा सकता है कि सार्वजनिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र की रक्षा करने के लिये पर्याप्त कानून हैं। लेकिन जमीनी स्तर पर किसी का पालन नहीं हो पा रहा है। आधुनिक लोकतंत्र में जब राजनीति और समाज में सारे नागरिकों की सक्रिय भूमिका होगी, तभी वह कानून का आदर करना सीखेगा। यदि समाज के हर व्यक्ति को वह सम्मान नहीं मिले, जिसका वह हकदार है तो उसके अंदर एक प्रकार की कुंठा घर कर जाती है और उसके लिए कानून अर्थहीन हो जाता है।

प्रशासनिक असफलता और राजनीतिक अवसरवाद के कारण एक वर्ग में अपार समृद्धि आयी है। निश्चित तौर पर यह समृद्धि आम आदमी को ललचाने वाली है। हमारे समाज में बड़ी तेजी से धनी हुआ यह वर्ग खुद को कानून और समाज से ऊपर समझ बैठा है। पैसा हो जाने पर भी यह वर्ग अभी उच्च संस्कारों को नहीं सीख पाया है। दस-पाँच साल में आयी यह सम्पन्नता निश्चित ही गलत तरीके से आयी है। पैसे के पीछे पागल आज का समाज न सिर्फ मानवीय सम्बन्धों को भूलता जा रहा है, बल्कि वह जल, जंगल, जमीन और पर्यावरण का भी शत्रु बन बैठा है। कानून के लूप होल्स का लाभ उठा कर सम्पन्न हुआ यह वर्ग हर जगह कानून को तोड़ने से नहीं हिचक रहा है, परिणाम सामने है। समाज निर्माण की जो प्रक्रिया अनवरत चलती रहती है, वह एक सीमा पर आकर रुक गयी है। पुराने मूल्य तेजी से टूट रहे हैं। संस्कारों और आदर्शों का जीवन में कोई स्थान नहीं रहा है।

पुराने नियम, कानून और संस्कारों के स्थान पर नये मूल्यों का निर्माण नहीं हो पा रहा है। समाज के एक वर्ग के सामने कानून बेबस नजर आ रहा है। एक तरफ बड़े लोग सरकारी जमीन पर अपनी दौलत का प्रदर्शन करते हुए ऊँची इमारत बना रहे हैं तो दूसरी तरफ गरीब भी सर छुपाने की नियत से ही सही सरकारी जमीनों पर कब्जा करने में पीछे नहीं है। जो सरकार सबको रोटी, कपड़ा और मकान जैसी बुनियादी सुविधा भी देने में नाकाम रही हो उसके कानून का सम्मान कैसे किया जा सकता है। देश का कानून सबके हितों की रक्षा करने में नाकाम रहा है। जिस कानून को समाज के अधिकांश लोग मानते हैं उसके टूटने का खतरा कम होता है। लेकिन आज चारों तरफ कानून और अनुशासन को न मानने की जिद हावी है। देश में नागरिकता बोध का निर्माण अभी तक नहीं हो पाया है।

भूमंडलीकरण, उदारीकरण के बाद नैतिक मूल्यों का विचलन बहुत तेजी से हुआ है। घर से लेकर बाहर तक बाजार का दबदबा कायम हो चुका है। बाजार किसी भी व्यक्ति की कीमत लगाने को आतुर दिख रहा है। उपभोक्तावादी संस्कृति के दौर में नैतिक मूल्य और अनुशासन की कराह तभी सुनाई देती है जब पानी सर से ऊपर चला जाता है। ट्रैफिक प्रणाली की अराजकता इसी सामाजिक संदर्भों की उपज है।

यातायात को नियंत्रित-व्यवस्थित करने के लिए कानून की कमी नहीं है। सड़कों पर तेज गति से भागती हुई लंबी कारें किसी की परवाह किए बिना दौड़ रही हैं। सरकारी और गैर सरकारी सर्वे यह बताते हैं कि सड़क दुर्घटना में हर साल बढ़ोत्तरी

हो रही है। अंतरराष्ट्रीय स्तर पर भी सड़क दुर्घटना से हो रही मौतों में वृद्धि हो रही है। किसी चौराहे पर लाल बत्ती को धता बताकर रोड पार कर जाना या ट्रैफिक पुलिस का मुस्तैदी से काम करने की बजाए खुलेआम घूस लेना उसी कार्यसंस्कृति का हिस्सा है। गलत तरीके से ओवरटेकिंग, बेवजह हार्न बजाना, निर्धारित लेन में न चलना और तेज गति से गाड़ी चलाकर ट्रैफिक कानूनों की अवहेलना आज के नवधनाढ्य युवकों का प्रमुख शगल बन गया है। नवदौलतियों की बेलगाम बीएमडब्ल्यू कारें कभी फुटपाथ पर सो रहे प्रवासी मजदूरों को कुचल देती हैं तो कभी किसी झुग्गी में मर्सडीज घुसाकर दो चार जानें लेने के बाद ही आगे बढ़ती है। दुर्भाग्य की बात तो यह है कि कानून का लम्बा हाथ भी इनके गिरेबाँ तक नहीं पहुँचता है। विकास के साथ-साथ जिस सड़क संस्कृति की जरूरत होती है वह हमारे देश में अभी तक नहीं बन पायी है।

अकेले दिल्ली में हर साल अड़तीस हजार नयी कारें सड़कों पर आती हैं, ऐसे में चाहे जितनी भी सड़कें या फ्लाईओवर बन जायें यातायात की समस्या कम नहीं होगी।

कहा जा रहा है कि सड़क दुघर्टनाओं पर नियंत्रण करने और सड़क सुरक्षा के लिए किये जाने वाले जरूरी उपायों को हर हाल में लागू किये जाने को लेकर केंद्र सरकार गंभीर है। इस मामले में केंद्र सरकार जल्द ही राज्य सरकारों के साथ मिलकर एक कार्यक्रम तैयार करने की योजना भी बना रही है ताकि इसके जरिये व्यापक स्तर पर जन-जागरूकता अभियान चलाया जा सके। इसमें सामाजिक संगठन, पुलिस-प्रशासन और जनता की भागीदारी सुनिश्चित की जा सकेगी। साथ ही, केंद्र सरकार इसके लिए मोटर वाहन अधिनियम को सख्त बनाने में जुटी हुई है। आज 80 फीसद दुर्घटनाएँ वाहन चालकों की गलती के कारण होती है।

लिहाजा सावधानी से वाहन चलाने और दुर्घटना से बचने के लिए किये जाने वाले उपायों को लेकर आज व्यापक रूप से जागरूकता पैदा की जाय। इस मामले में अभी सड़क सुरक्षा जागरूकता अभियान चलाया जाता है। इसमें पोस्टरों के जरिये व्यापक प्रचार-प्रसार किया जाता है।

इसके अलावा कुछ ऐसे भी उपाय किय जाने जरूरी होते हैं, जिससे दुर्घटनाएँ रोकी जा सकें जैसे शहरों में पैदल चलने वाले लोगों के लिए फुटपाथ बनाना और बनाये गये फुटपाथों को अतिक्रमण से बचाना आदि। इसी तरह से सड़क सुरक्षा के लिहाज से बनाये गये जरूरी नियमों का पालन न करने वालों के खिलाफ सख्ती से कर्रवाई किया जाना भी महत्त्वपूर्ण है। इन सभी मामलों में सामाजिक संगठनों, पुलिस-प्रशासन और जनता की भागीदारी बहुत जरूरी है।

मोबाइल का संचार क्रांति में चाहे कितना बड़ा योगदान हो, लेकिन इसकी वजह से विश्व में हर साल 20 फीसदी सड़क दुर्घटनाएँ होती हैं और इसमें से आधी दुर्घटनाएँ भारतीय राजमार्गो पर घटित होती हैं। मोबाइल से होने वाली सड़क दुर्घटनाओं को रोकने के लिए तमिलनाडु के कोयम्बटूर स्थित अन्ना युनिवर्सिटी ऑफ टेक्नोलॉजी के तीन शोधार्थियों ने नयी तकनीक का ईजाद किया है जो मोबाइल फोन को जाम कर देगी। इसकी वजह से लंबी यात्रा पर निकले ट्रक चालक मोबाइल पर बात नहीं कर पायेंगे और दुर्घटना से बचा जा सकता है। ट्रक और भारी वाहनों के चालक शायद ही कभी यात्रा के दौरान मोबाइल बंद रखते हों। वाहन चलाते समय नंबर डायल करने, बात करने या होल्ड पर रखने के दौरान ध्यान भटक सकता है, जिससे सड़क पर दुर्घटना हो सकती है। यह यंत्र मोबाइल के सिगनल को अवशोषित कर लेता है, इसलिए चालक जैसे ही वाहन का इंजन स्टार्ट करेगा वैसे ही मोबाइल जैमर सिस्टम चालू हो जाएगा।

आजादी के पैंसठ साल बाद भी एक दूसरे की सुविधाओं, अधिकारों का ख्याल रखना हमारी चिंता का विषय नहीं बन पाया। व्यक्तिगत कार्यक्रमों के लिए सड़क के आवागमन को रोक देना आम बात है। इसके बाद जो कठिनाई उत्पन्न होती है उससे उन लोगों का कोई लेना-देना नहीं होता है। सड़क पर गन्दगी फैलाना, सरकारी जमीन का अतिक्रमण, बसों में धूम्रपान आम बात हो गयी है। हमारे देश में लाइसेंसिंग प्रणाली इतनी आसान है कि कोई भी आदमी आराम से कुछ पैसा खर्च करके ड्राइविंग लाइसेंस प्राप्त कर लेता है, चाहे गाड़ी चलाने में उसकी कुशलता न के बराबर हो। जब तक इस पूरी प्रक्रिया को सही नहीं किया जायेगा तब तक ऐसे ही सड़क दुर्घटनाएँ होती रहेंगी। आज अकसर ही छोटे-छोटे बच्चों को गाड़ी चलाते हुए देखा जा सकता है। आँकड़े यही बताते हैं कि दुर्घटना में मौत सबसे ज्यादा दस से पचीस वर्ष आयु वालों की ही होती है। महज ट्रैफिक व्यवस्था में बदलाव से ही समस्या का समाधान सम्भव नहीं है। आज पूरा तंत्र जर्जर हो चुका है। किसी एक संस्था के सुधार या बदलाव की बात नहीं है। जब तक सारे तंत्र में आमूल बदलाव नहीं किया जायेगा, तब तक किसी न किसी रूप में अराजकता मौजूद रहेगी और दुर्घटनाएँ भी नहीं रुकेंगी। ❑

# सौ दिन से जारी धरने को हजार सलाम

**–पंकज श्रीवास्तव**

श्याम रुद्र पाठक को सलाम। जैसा जज्बा वो दिखा रहे हैं, उसे खाये-अघाये लोगों के बीच पागलपन कहने का चलन है। पाठक जी, बीते सौ दिनों से दिल्ली में कांग्रेस मुख्यालय के बाहर धरना दे रहे हैं। रोज सुबह पहुँच जाते हैं। पहले घंटे-दो घंटे में ही गिरफ्तार हो जाते थे, लेकिन उनकी लगन और सच्चाई देखकर पुलिस वालों को भी शर्म आने लगी है। लिहाजा कई बार शाम तक बैठने को मिल जाता है, बशर्ते सोनिया गाँधी या राहुल गाँधी को वहाँ न आना हो। उनके आने पर पाठक जी नारे लगाते हैं जिसे रोकने के लिए, उन्हें पहले ही गिरफ्तार कर लिया जाता है। जो भी हो, सौ दिन से रोज उनकी रात तुगलक रोड थाने में कट रही है। 24 घंटा होने के पहले पुलिस छोड़ देती है, वरना कोर्ट-कचहरी का लफड़ा फँस सकता है।

श्याम जी की माँग है कि संविधान के अनुच्छेद 348 में संशोधन करके सुप्रीम कोर्ट और उच्च न्यायालयों में भारतीय भाषाओं को भी जगह दी जाय। अभी सिर्फ अंग्रेजी देवी ही न्याय करती हैं। तमाम तकनीकी अड़ंगों के साथ राजस्थान, उत्तर प्रदेश, बिहार और मध्यप्रदेश ने कुछ छूट हासिल की है, जहाँ के उच्च न्यायालयों में, बेहद सीमित अर्थों में हिंदी का उपयोग हो सकता है। श्याम रुद्र इस परिपाटी को बदलना चाहते हैं ताकि आम लोग जान सकें कि उनका वकील अदालत में उनकी तकलीफ का कैसा बयान कर रहा है, क्या दलील दे रहा है और मुंसिफ महोदय का न्याय किन तर्कों पर आधारित है।

मेरी नजर में ये माँग भारत मे लोकतंत्र को मजबूत करने के लिए है, उसे सार्थक बनाने के लिए है। दुनिया का कौन सा देश होगा जहाँ जनता को न्याय जनता की भाषा में नहीं दिया जाता है। इसे हिंदी थोपने का षड़यंत्र न मानें। श्याम रुद्र जी इसे भारतीय भाषाओं का मोर्चा मानते हैं। यानी मद्रास हाईकोर्ट में तमिल में काम हो और बंबई हाईकोर्ट में मराठी में। इसी तरह यूपी सहित सभी हिंदी प्रदेशों में हिंदी में हो। सुप्रीम कोर्ट में भी हिंदी और दूसरी भारतीय भाषाओं को जगह मिले। त्रिभाषा फार्मूले को लागू किया जा सकता है। यदि ऐसा किया जाय तो जिले का वकील भी सुप्रीम कोर्ट पहुँच सकेगा और 5-10 लाख रुपये प्रति पेशी वसूलने वाले सुप्रीम कोर्ट के वकीलों का एकाधिकार खत्म हो जायेगा। धीरे-धीरे ये बात लोगों को समझ में आ रही है। कांग्रेस महासचिव आस्कर फर्नांडिज ने उनके ज्ञापन को गंभीर मानते हुए सितंबर में तत्कालीन कानून मंत्री सलमान खुर्शीद को पत्र लिखा था। ये अलग बात है कि नतीजा ढाक के तीन पात वाला रहा।

बहरहाल, श्याम रुद्र पाठक के दिमाग में भाषा का मसला किसी सनक की तरह नहीं उठा है। उन्होंने 1980 में आईआईटी प्रवेश परीक्षा में टॉप किया था। फिर, आईआईटी दिल्ली के छात्र हुए, लेकिन बी टेक के आखिरी साल का प्रोजेक्ट हिंदी में लिखने पर वे अड़ गये। संस्थान ने डिग्री देने से मना कर दिया। श्याम जी भी अड़े रहे। मामला संसद में गूँजा तो जाकर कहीं बात बनी। लेकिन इंजीनियर बन चुके श्याम रुद्र पाठक के लिए देश विदेश में पैसा कमाना नहीं, देश की गाड़ी को भारतीय भाषाओं के इंजन से जोड़ना ही सबसे बड़ा लक्ष्य बन गया। 1985 में उन्होंने भारतीय भाषाओं में आईआईटी की प्रवेश परीक्षा कराने की माँग को लेकर आंदोलन शुरू किया। तमाम धरने-प्रदर्शन के बाद 1990 में ये फैसला हो पाया। अब उन्होंने भारतीय अदालतों को भारतीय भाषाओं से समृद्ध करने का बीड़ा उठाया है। सौ दिन से थाने में रात काटने वाले श्यामरुद्र पाठक जिस सवेरे के लिए लड़ रहे हैं, उसका इंतजार 95 फीसदी भारतीयों को शिद्दत से है। समर्थन देना इतिहास की माँग है। ❑

## आने वाला खतरा

इस लज्जित और पराजित युग में
कहीं से ले आओ वह दिमाग
जो खुशामद आदतन नहीं करता

कहीं से ले आओ निर्धनता
जो अपने बदले में कुछ नहीं माँगती
और उसे एक बार आँख से आँख मिलाने दो,

जल्दी कर डालो कि फलने-फूलने वाले हैं लोग
औरतें पियेंगी आदमी खायेंगे--रमेश
एक दिन इसी तरह आयेगा--रमेश
कि किसी की कोई राय न रह जायेगी--रमेश
क्रोध होगा पर विरोध न होगा
अर्जियों के सिवाय--रमेश
खतरा होगा खतरे की घंटी होगी
और उसे बादशाह बजायेगा--रमेश

–रघुवीर सहाय

# उत्तरी कोरिया में युद्ध टालने का कर्तव्य

आज के दौर में मानवता जिन बड़ी चुनौतियों का सामना कर रही है, मैंने उनकी चर्चा कुछ दिन पहले ही की थी। हमारी धरती पर बौद्धिक जीवन लगभग 2,00,000 वर्ष पहले उत्पन्न हुआ था, हालाँकि नयी खोजों से कुछ और ही बात का पता चला है।

हमें बौद्धिक जीवन और उस सामान्य जीवन के अस्तित्व के बीच भ्रमित नहीं होना चाहिए, जो अपने शुरुआती रूप में हमारे सौर मंडल के अंदर करोड़ों साल पहले से मौजूद था।

दरअसल पृथ्वी पर जीवन के अनगिनत रूप मौजूद हैं। दुनिया के अत्यन्त जाने-माने वैज्ञानिकों ने बहुत पहले ही अपनी श्रेष्ठ रचनाओं में इस विचार की कल्पना की थी कि 13.7 अरब वर्ष पहले जब ब्रह्माण्ड की सृष्टि के समय जो महा विस्फोट हुआ था, उस समय उत्पन्न हुई ध्वनि को पुनरुत्पादित किया जा सकता है।

यह भूमिका काफी विस्तृत होती, लेकिन यहाँ हमारा मकसद कोरयाई प्रायद्वीप में जिस तरह की परिस्थिति निर्मित हुई है, उसमें एक अविश्वसनीय और असंगत घटना की गम्भीरता को व्याख्यायित करना है, जिस भौगोलिक क्षेत्र में दुनिया की लगभग सात अरब आबादी में से पाँच अरब आबादी रहती है।

यह घटना अब से 50 वर्ष पहले, 1962 में क्यूबा के इर्द-गिर्द उत्पन्न अक्टूबर संकट के बाद पैदा हुई नाभिकीय युद्ध की गम्भीर चुनौती से मिलती-जुलती है।

1950 में वहाँ (कोरियाई प्रायदीप में) एक युद्ध छेड़ा गया था जिसकी कीमत लाखों लोगों ने अपनी जान देकर चुकायी थी। अमरीका द्वारा हिरोशिमा और नागासाकी शहरों के निहत्थे लोगों पर दो नाभिकीय बम गिराये जाने के कुछ ही सेकण्ड के अंदर लाखों लोगों की या तो मौत हुई थी या वे विकिरण के शिकार हुए थे जबकि इस घटना के महज पाँच साल बाद ही कोरिया में युद्ध थोपा गया था।

उस युद्ध के दौरान जनरल डगलस मैकार्थर ने कोरिया जनवादी जन गणराज्य पर भी नाभिकीय हथियारों का इस्तेमाल करना चाहा था। लेकिन हैरी ट्रूमैन ने इसकी इजाजत नहीं दी थी।

इस बात की पुष्टि हो चुकी है कि चीन ने अपने देश की सरहद से लगे एक देश में अपने दुश्मन की सेना को पैर जमाने से रोकने के प्रयास में अपने दस लाख बहादुर सैनिकों को गवाँ दिया था। सोवियत सेना ने भी अपनी ओर से हथियार, वायु सैनिक सहयोग, तकनीक और आर्थिक मदद दी थी।

मुझे गर्व है कि मैं एक ऐतिहासिक व्यक्ति, अत्यंत साहसी और क्रान्तिकारी नेता किम इल सुंग से मिला था। अगर वहाँ युद्ध छिड़ गया तो उस महाद्वीप के दोनों ओर की जनता को भीषण बलिदान देना पड़ेगा, जबकि उनमें से किसी को भी इससे कोई लाभ नहीं होगा। कोरिया जनवादी जन गणराज्य हमेशा से क्यूबा का मित्र रहा है तथा क्यूबा भी हमेशा उसके साथ खड़ा रहा है और आगे भी रहेगा।

अब जबकि उस देश ने वैज्ञानिक और तकनीकी उपलब्धियाँ हासिल कर ली हैं, तब हम उसे उन तमाम देशों के प्रति उसके कर्तव्यों की याद दिलाना चाहेंगे, जो उसके महान दोस्त रहे हैं और उसका यह भूलना अनुचित होगा कि इस तरह का युद्ध खास तौर पर इस ग्रह की सत्तर फीसदी आबादी को प्रभावित करेगा।

अगर वहाँ इस पैमाने की लड़ाई फूट पड़ती है, तो दूसरी बार चुनी गयी बराक ओबामा की सरकार ऐसी छवियों के सैलाब में डूब जायेगी जो उनको अमरीका के इतिहास के सबसे मनहूस चरित्र के रूप में प्रस्तुत करेंगे। युद्ध को टालना उनका और अमरीकी जनता का भी कर्तव्य बनता है।

**फिदेल कास्त्रो रुज**
**4 अप्रैल, 2013**

**(मूल अँग्रेजी लेख डायन्यूक डॉट ऑर्ग से आभार सहित।)**

❑

# मुम्बई में जमीन पर नाजायज कब्जा असली मुजरिम कौन?

मुम्बई को देश की व्यावसायिक राजधानी माना जाता है। यहाँ की 54 फीसदी आबादी, यानि 60 लाख से भी ज्यादा लोग उन झोपड़पट्टियों में रहते हैं जो मुम्बई की सिर्फ 6 फीसदी जमीन पर बसी हैं। यहाँ के वाशिंदों में संसाधनों और जरूरी सुविधाओं के लिए मारा-मारी मची है। ऐसी धारणा फैलायी गयी है कि वहाँ संसाधनों की कमी है, जबकि सच्चाई यह है कि वहाँ के भरपूर संसाधनों पर चन्द घरानों का कब्जा है और यही वहाँ टकराव का असली कारण है। शासकों और धनी वर्ग ने जनता के दिमाग में यह झूठी बात बैठा दी है कि वहाँ की झुग्गी-झोपड़ियों में रहने वाले नाजायज कब्जा जमाये हुए हैं। वे ही सार्वजनिक सम्पत्ति, जमीन, पानी, बिजली और दूसरी सेवाओं का मुफ्त में इस्तेमाल करते हैं और समाज पर बोझ बने हुए हैं। आइये इस बात का जायजा लें कि वहाँ अतिक्रमण के लिए वास्तव में कौन जिम्मेदार हैं।

## मुम्बई शहर

ऐतिहासिक रूप से मुम्बई शहर उद्योग-धंधों और बन्दरगाहों का एक विराट केन्द्र रहा है। इन गतिविधियों को सुचारु रूप से चलाने के लिए भारी संख्या में मजदूरों की जरूरत पड़ी। लेकिन नयी आर्थिक नीति लागू होने के बाद पूरे देश में और खास कर मुम्बई शहर में बड़ी तेजी से एक बुनियादी बदलाव आना शुरू हुआ। क्षेत्रीय विकास योजना और दूसरे कई दस्तावेज साफ-साफ यह बयान करते हैं कि मुम्बई के इस रूपान्तर का मकसद क्या है? इन दस्तावेजों में दर्ज है कि मुम्बई को उद्योग-धंधों का केन्द्र नहीं, बल्कि सूचना तकनोलॉजी, वित्त, स्वास्थ्य सेवा, मीडिया और मनोरंजन जैसी उच्च स्तरीय सेवाओं का अन्तरराष्ट्रीय अड्डा बनाना है। मुम्बई महानगर क्षेत्रीय विकास योजना को 1993-94 में तैयार किया गया था, जिसमें इस शहर को विनिर्माण और औद्योगिक उत्पादन की जगह सेवा क्षेत्र का केन्द्र बनाने की बात कही गयी है। इसी के साथ औद्योगिक क्षेत्र की नौकरियाँ खत्म होती गयीं तथा व्यापार, वित्त और सेवा क्षेत्र में रोजगार पैदा हुए।

इस शहर को नयी शक्ल देने के लिए जो अंधी दौड़ शुरू हुई उसके शिकार हुए हजारों मजदूर वाशिंदे जो इस रूपान्तरण की दानवी मशीन के असली कलपुर्जे के रूप में इस्तेमाल होते हैं। शहर के विकास की रूपरेखा बनाने वालों में अन्तरराष्ट्रीय परामर्शदाता कम्पनियों (मेकेन्सी इण्टरनेशनल) और पूँजीपति घरानों (महेन्द्रा एण्ड महेन्द्रा, टाटा, आईसीआईसीआई) की प्रमुख भूमिका रही। मुख्यमंत्री के टास्कफोर्स में शामिल, तड़क-भड़क वाली मीडिया में छाये रहने वाले इन लोगों को शहर की मेहनतकश आबादी की कोई चिन्ता या परवाह नहीं। इन्हीं लोगों ने अगले 10 सालों में 2 लाख करोड़ रुपये खर्च करके मुम्बई को विश्वस्तर का शहर बनाने का खाका तैयार किया, जिसमें मेहनतकश जनता के लिए कोई जगह नहीं थी। उनका मकसद मुम्बई को वैश्विक वित्तीय केन्द्र में तब्दील करना था जहाँ केवल वित्तीय सेवाओं से जुड़े नाना प्रकार के कारोबार हों।

## वास्तव में अतिक्रमण करने वाला कौन?

शहर की जमीन और दूसरे संसाधनों पर नाजायज कब्जे के लिए झोपड़पट्टियों के निवासी, फेरी-खोमचे वाले, पटरी दुकानदार और मछुआरों को दोषी ठहराया जाता है। अतिक्रमण हटाने के नाम पर आये दिन उनकी बस्तियाँ उजाड़ी जाती हैं, उनके घरों को बुल्डोजरों से रौंद दिया जाता है तथा उनकी मेहनत की कमाई को हड़प लिया जाता है। उनकी नागरिकता को नजरअन्दाज किया जाता है और उसके साथ इस तरह का सलूक किया जाता है जैसे वे इन्सान नहीं बल्कि ऐसे जीव हैं जो सताये और कुचले जाने के लिए ही बने हों। उनके साथ यह गैर कानूनी और वहशियाना बर्ताव यह मान कर किया जाता है कि वे अतिक्रमणकारी हैं। अधिकारी और नेता जो उनसे मिलने वाली रिश्वत और वोट के दम पर मौज उड़ाते हैं वे ही उन्हें उजाड़े जाने का फरमान जारी करते हैं। यह सही

है कि इस शहर की जमीन और पानी जैसे संसाधनों को हड़पा जा रहा है, लेकिन सवाल यह है कि अतिक्रमण करने वाले कौन हैं? झोपड़पट्टियों के निवासी या कोई और? आइये देखें।

## बेघरों के लिए घर की जमीन पर धनिकों के लिए शॉपिंग मॉल

वोरली का अत्रिया शॉपिंग मॉल नगरपालिका की उस जमीन पर बना है जो मौजूदा विकास योजना के मुताबिक बेघरों के लिए घर और प्राथमिक पाठशाला खोलने के लिए बचा कर रखी गयी थी। शहरी विकास योजना के मुताबिक वह 3 एकड़ का प्लॉट झोपड़पट्टियों में रहने वालों के लिए 1885 चाल बनाने और एक नगरपालिका प्राथमिक पाठशाला का निर्माण करने के लिए छोड़ा गया था। लेकिन बिल्डरों ने नगरपालिका और शहरी विकास विभाग के अधिकारियों के साथ साँठ-गाँठ करके विकास योजना को ताक पर रख दिया। वहाँ एक बड़ा सा शॉपिंग मॉल खड़ा कर दिया। इस दौरान कितनी तरह की अनियमितताएँ की गयीं, उसकी लम्बी फेहरिश्त है। बिल्डिंग के चारों ओर जितनी जमीन छोड़ना जरूरी होता है उससे कम जमीन छोड़ी गयी। समुद्र तटीय क्षेत्र से जुड़े कायदे-कानूनों की भी धज्जी उड़ायी गयी। जिस वक्त बेघरों और सरकार द्वारा विस्थापित लोगों के लिए घर की जमीन पर शॉपिंग मॉल बन रहा था, ठीक उसी दौरान सरकारी अधिकारी झुग्गी-झोपड़ियों में रहने वालों के "गैर कानूनी" मकानों को ढाने में व्यस्त थे।

सूचना अधिकार के तहत दस्तावेज हासिल करके मुम्बई उच्च-न्यायालय में गैर कानूनी मॉल को ढाने के लिए जनहित याचिका दायर की गयी है, जिसके खिलाफ महाराष्ट्र सरकार और मुम्बई नगर पालिका उन बिल्डरों की सिफारिश कर रही हैं, उनका समर्थन कर रही हैं और उस गैर कानूनी निर्माण की हिफाजत कर रही हैं।

## हीरा नंदानी गार्डेन मुम्बई का घोटाला गार्डेन

शहरों में झुग्गी-झोपड़ियों के प्रसार को गलत सरकारी नीतियों और प्राथमिकताओं के दुष्परिणाम की जगह उन्हें "अतिक्रमण" की कार्रवाई माना जाता है। कठिन परिश्रम करने के बावजूद शोषित, वंचित और भेदभाव के शिकार लोगों के पक्ष में काम करने वाले लोगों ने उनके साथ होने वाले असमान और भेदभावपूर्ण व्यवहारों का कई-कई बार भण्डाफोड़ किया है। बिल्डरों, नेताओं और अधिकारियों की साँठ-गाँठ से प्रभावशाली लोगों द्वारा किये जाने वाले अतिक्रमण की न केवल अनदेखी की जाती है, बल्कि उसे कानूनी जामा भी पहना दिया जाता है। इस मामले में हीरा नंदानी गार्डेन का मामला चौंकाने वाला है, जहाँ 230 एकड़ जमीन निजी मिल्कियत के रूप में 40 पैसा प्रति एकड़ के भाव 80 साल के पट्टे पर दे दी गयी। इस काम के लिए कायदे-कानूनों को तोड़ा-मरोड़ा गया और उनका उल्लंघन किया गया, ताकि सार्वजनिक सम्पत्ति निजी मुनाफाखोरों को सौंपी जाय। शहरी हदबन्दी कानून में छूट देते हुए इतनी सस्ती दर पर जमीन देने के पीछे यह समझदारी थी कि बिल्डर उस जमीन पर सस्ते फ्लैट बनायेगा जिनमें से 50 फीसदी फ्लैट 134 वर्गफुट और 50 फीसदी 268 वर्गफुट से अधिक आकार के नहीं होंगे।

सच्चाई यह है कि उस जमीन पर निर्मित हीरा नंदानी गार्डेन में आज 42 रिहायशी और 23 व्यवसायिक इमारतें खड़ी हैं। बिल्डर की वेबसाइट और विवरणिका के मुताबिक इसमें से कोई भी फ्लैट 1800 वर्गफुट से कम आकार का नहीं है, जबकि अधिकतम 4925 वर्गफुट आकार तक के फ्लैट बने। 2125 वर्गफुट के फ्लैट की कीमत 4 करोड़ रुपये रखी गयी है। बिल्डर को 40 पैसे प्रति एकड़ की लीज पर 240 एकड़ जमीन इसलिए दी गयी थी कि वह छोटे आवास बनायेगा, लेकिन वास्तव में उसने विराट महलनुमा घर बनाये हैं। उन घरों को उसने कई-कई करोड़ रुपये में बेचकर जनता और सरकार दोनों को बेवकूफ बनाया। सरकार ने ठीक ऐसा ही समझौता ओशीवारा में 160 एकड़ जमीन के लिए भी किया है।

जब इस घोटाले का पर्दाफाश हुआ और जनहित याचिका दायर की गयी, तो उच्च न्यायालय ने बिल्डर पर 2,000 करोड़ का जुर्माना लगाया लेकिन आज तक उसने जुर्माना नहीं भरा।

## 60 मंजिली मीनार : सबसे ऊँची अनियमितता

मुम्बई सेन्ट्रल में निर्माणाधीन दो 60 मंजिली मीनारों के बारे में यह दावा किया जा रहा है कि ये इस देश की सबसे ऊँची इमारतें होंगी। बिल्डरों को लगे हाथ यह भी दावा करना चाहिए कि यह इमारत सबसे बड़ी अनियमितताओं का नतीजा है। सूचना अधिकार के तहत प्राप्त जानकारी के मुताबिक ये इमारतें जिस जमीन पर बन रही हैं वह 12.2

मीटर चौड़ी सड़क के लिए छोड़ी गयी थी। यह प्रोजेक्ट झुग्गी पुनर्वास योजना के तहत बनाया जा रहा है, जबकि इसके फ्लैटों की कीमत 15 से 45 करोड़ रुपये के बीच है। ये इमारतें पुलिस स्टाफ क्वार्टर और एक झुग्गी-झोपड़ी इलाके तक जाने वाली प्रस्तावित सड़क की जमीन तथा पुलिस स्टाफ क्वार्टर और झुग्गीवासी पुनर्वास के लिए छोड़ी गयी जमीन पर नाजायज कब्जा करके बनायी जा रही है। इसका निर्माता शापूर जी पोलान जी बिल्डर है जिसकी राजनीति में ऊँची पहुँच है।

एक तरफ जहाँ मुम्बई उच्च न्यायालय ने पिछले दिनों सरकार को कई आदेश जारी किये हैं कि वह सड़क के किनारे सामान बेचने वालों और पटरी दुकानदारों के "अतिक्रमण" को हटाया जाना सुनिश्चित करे, वहीं दूसरी तरफ सड़क की जमीन कब्जा करके इस 60 मंजिला इमारत का निर्माण किया जा रहा है। सम्बन्धित प्राधिकरण और बिल्डर को कानूनी नोटिस जारी किया गया है कि वे सड़क के लिए छोड़ी गयी जमीन को खाली करें।

## शहरी जमींदार

मुट्ठी भर लोगों के हाथों में जमीन का संकेन्द्रण रोकने और सबके हित में जमीन का समान बँटवारा करने के लिए 1976 में शहरी भूमि हदबन्दी और विनियम कानून बनाया गया था। इस कानून का कभी सही ढंग से पालन नहीं हुआ जिसका नतीजा है कि यहाँ जमीन कुछ गिने-चुने भू माफियाओं के पास है जिनमें भूस्वामी-नौकरशाह-बिल्डर शामिल हैं। इस कानून के मुताबिक 500 वर्ग मीटर की निर्धारित सीमा से अधिक जमीन रखने वाले व्यक्ति से सरकार उसकी अतिरिक्त जमीन जब्त करके उसे गरीबों के लिए मकान बनाने में इस्तेमाल करेगी। लेकिन यह कानून कभी लागू नहीं हुआ। सरकारी अनुमान के मुताबिक राज्य में 22 हजार एकड़ से भी अधिक अतिरिक्त जमीन है।

मुम्बई में केवल मुट्ठी भर लोगों के पास 15 हजार एकड़ जमीन है जो देश के कानून का खुला मजाक है। राष्ट्रीय शहरीकरण आयोग की रिपोर्ट (1987) में कहा गया था कि मुम्बई की 55 फीसदी खाली जमीन वहाँ के सिर्फ 91 लोगों के पास है। दूसरी ओर लाखों लोग झुग्गी-झोपड़ियों की अमानवीय परिस्थितियों में रहते हैं और जिनके पास 10 वर्गफुट की झुग्गी है, वे भी अपने को बहुत खुशकिस्मत मानते हैं। हदबन्दी कानून

| क्रमांक | जमीन मालिक का नाम | जमीन का रकबा |
|---|---|---|
| 1- | गोदरेज एण्ड बॉयरी | 2500 एकड़ |
| 2- | दिनशाँ ट्रस्ट | 800 एकड़ |
| 3- | बैरम जी जीजी भॉय | 600 एकड़ |
| 4- | एस्सेल वर्ल्ड | 650 एकड़ |
| 5- | अमीर पार्क अम्यूजमेन्ट | 300 एकड़ |
| 6- | एन के मेसजिम ट्रस्ट | 315 एकड़ |
| 7- | के जे सोमैया ट्रस्ट | 175 एकड़ |
| 8- | भिवण्डीवाला होरमास जी | 935 एकड़ |
| 9- | घासीराम रामदाया | 885 एकड़ |
| 10- | गैमन इण्डिया | 240 एकड़ |
| 11- | लार्सन एण्ड टुब्रो | 165 एकड़ |
| 12- | महेन्द्रा एण्ड महेन्द्रा | 140 एकड़ |

की धज्जी उड़ाने वाले शहरी जमींदारों में प्रमुख हैं-

## शहरी नवीनीकरण : मुम्बई शैली

अम्बेडकर नगर, तुलसीवाड़ी की 9 बिल्डिंगों में नगरपालिका के सफाई कर्मचारी जो गुजरात के दलित मेघ जाति के हैं, 1945 से ही रहते आ रहे थे। इलाके के विकास के नाम पर जो रेस कोर्स और बेलिंगटन क्लब के निकट है, विकास नियंत्रण नियमावली में फेर-बदल किया गया और शहरी नवीनीकरण की विशेष योजना लायी गयी। इसमें नगरपालिका क्वार्टर और झोपड़ियों को उजाड़ना और उस जमीन के छोटे से हिस्से पर पुनर्वास के लिए भवन और बेलिंगटन क्लब गोल्फ कोर्स के सामने फ्री सेफ भवन बनाना शामिल था। इसमें बिल्डरों (डीएलएफ, शपूर जी पल्लन जी और आकृति निर्माण मिल कर) को लगभग 13 हजार करोड़ के मुनाफे का अनुमान है, जबकि यह जमीन नगरपालिका की है।

सूचना अधिकार से जानकारी जुटा कर और स्थानीय निवासियों को जागृत करके इस भ्रष्ट गठजोड़ की अवैध कार्रवाइयों का भण्डाफोड़ किया गया। पता चला कि बिल्डरों ने सितम्बर 2006 में पर्यावरण अनुमति प्राप्त होने से पहले ही जून 2006 में उनमें से एक पुरानी बिल्डिंग गिरा दी। जबकि उसे गिराये जाने की पूर्व सूचना वार्ड ऑफिस को नहीं दी। इस गैरकानूनी कार्रवाई में नगरपालिका अधिकारी और स्थानीय पुलिस ने बिल्डरों का साथ दिया। दस्तावेजी सबूतों के आधार पर उन्हें कानूनी नोटिस भेजा गया और शिकायत दर्ज करायी

गयी। अदालत ने पूर्व नगरपालिका आयुक्त और महाराष्ट्र के वर्तमान उपलोकायुक्त जॉनी जोसफ सहित सभी दोषी आधिकारियों के खिलाफ मुकदमा दर्ज करने का आदेश दिया है।

## सार्वजनिक जमीन, निजी उपयोग

मुम्बई में जमीन का उपयोग किस मद में होगा, यह शहरी योजना विभाग द्वारा तैयार की गयी योजना के अनुसार होता है। झुग्गीवासियों के मकानों को यह कह कर उजाड़ा गया कि वे विकास योजना का उल्लंघन करके बसे हैं। लेकिन आश्चर्य तब हुआ जब सरकारी दस्तावेजों के अध्ययन से यह पता चला कि पिछले 2 वर्षों में महाराष्ट्र सरकार ने 60 प्लॉटों के पूर्व निर्धारित उपयोग को बदल दिया और उनमें से ज्यादातर प्लॉट ऊँची इमारत बनाने के लिए बिल्डरों को सौंप दिया। यही नहीं, पिछले 15 वर्षों में सरकार और नगर पालिका के अधिकारियों ने स्कूल, अस्पताल, पार्क और खेल के मैदान बनाने के लिए जरूरी कुल जमीन का केवल 10 फीसदी ही अधिग्रहण किया। सार्वजनिक आवास के लिए निर्धारित 281 फ्लैटों में से केवल 3 का, स्कूल के लिए निर्धारित 925 फ्लैटों में से केवल 48 का और अस्पताल के लिए निर्धारित 379 फ्लैटों में से केवल एक फ्लैट का अधिग्रहण और विकास किया गया। शेष सभी फ्लैट उनके मालिकों के साथ साँठ-गाँठ करके उन्हीं के पास निजी उपयोग के लिए छोड़ दिये गये।

## पट्टे की जमीन और उनके नाजायज कब्जेदार

मुम्बई में सैकड़ों एकड़ जमीन अधिकारियों ने शहर और उसके आसपास के गिने चुने प्रभावशाली व्यक्तियों और परिवारों को पट्टे पर दी है। दूसरी ओर गरीबों को छोटे-छोटे फ्लैट का पट्टा देने पर कई वर्षों से रोक लगा दी गयी है।

उपनगर आयुक्त ने वहाँ लगभग 1 करोड़ वर्ग गज जमीन पट्टे पर दी है। जिनके पट्टे का बार-बार नवीनकरण कर दिया जाता है और पुरानी दर से लगभग 4 रुपये प्रति वर्ग गज सालाना लगान लिया जाता है। पिछले तीन वर्षों से मुम्बई उपनगरीय प्राधिकार पट्टों पर 106 रुपये प्रति वर्ग गज लगान वसूलता है जबकि बाजार भाव 1700 रुपये प्रति वर्ग गज है। जाहिर है कि हर साल करोड़ों रुपये की छूट धनी लोगों को दी जा रही है।

विचित्र तो यह है कि जिन जमीनों के लीज की अवधि खत्म हो जाती है, उनके मालिक अपनी जमीन प्राधिकरण को वापस नहीं करते। लेकिन गैर कानूनी अतिक्रमण करने वालों को प्राधिकरण बेदखल नहीं करता।

## मिल और मॉल : घोटालों का आख्यान

सेन्ट्रल मुम्बई के कपड़ा मिलों का बन्द होना मुम्बई वासियों के लिए सबसे बड़ी त्रासदी रही है। उद्योगपतियों ने मिलों का आधुनिकीकरण नहीं किया, क्योंकि उनकी निगाह मिल की महँगी जमीन बेच कर बेहिसाब कमाई करने पर लगी हुई थी। जब एक-एक कर मिलें बन्द हो रही थीं तब उन पर निर्भर लाखों लोग कंगाली के शिकार हो रहे थे और दर-दर की ठोकर खाने को मजबूर थे। दूसरी ओर, लाखों लोगों को गरीबी और बदहाली की गर्त में पहुँचाने वाले मिल मालिक मिल की जमीनें बेच कर मालामाल हो रहे थे। इसने कई घोटालों को जन्म दिया जिन्हें एक उदाहरण के जरिये समझा जा सकता है। जुलाई 2005 में एनटीसी ने जुपिटर मिल की 11 एकड़ जमीन बेची। जमीन की कीमत बाजार भाव के मुताबिक 4500 करोड़ थी, जबकि उसे 450 करोड़ में इण्डिया बुल को बेचा गया। वह जमीन रिहायशी इलाके के लिए निर्धारित थी, यानी वहाँ के गरीबों के लिए छोटे-छोटे घर बनाना तय था। लेकिन सभी नियमों को ताक पर रखते हुए वहाँ आईटी कम्पनियों के आलीशान कार्यालय और शॉपिंग मॉल बनाये गये। मिल बन्द होने के कारण जिन मजदूरों की रोजी-रोटी चली गयी उनके साथ किये गये वादे पूरे नहीं किये गये, उन्हें कोई लाभ नहीं हुआ, जबकि बिल्डर और कॉरपोरेट घरानों ने गैरकानूनी तौर तरीके अपनाकर करोड़ों की कमाई की।

इसी तरह शहर के केन्द्र में स्थित बन्द मिलों की लगभग 600 एकड़ जमीन को मॉल, शॉपिंग कॉम्पलेक्स और कारपोरेट ऑफिसों में बदल दिया गया।

## बान्द्रा कुरला कॉमप्लेक्स पर्यावरण का विनाश

बान्द्रा कुरला कॉम्प्लेक्स का विकास 1990 के दशक में मुम्बई महानगर क्षेत्रीय विकास प्राधिकरण द्वारा व्यावसायिक गतिविधियों के लिए किया गया था। इसमें 730 एकड़ क्षेत्र में माहिम खाड़ी में गिरने वाली मीठी नदी की घाटी का हरे-भरे जंगल और दलदली इलाका भी शामिल किया गया। इसके

चलते मीठी नदी के मुहाने की चौड़ाई पहले की तुलना में केवल एक तिहाई रह गयी।

नदी घाटी को पाट कर इस पर निर्माण का काम, केजी परान्जपे कमेटी (1987), डॉ. कुलकर्णी रिर्पोट (1992), मैनग्रोव कमेटी (1993) सहित पर्यावरण सम्बन्धी कई सरकारी हिदायतों को धता बताते हुए किया गया। आज इस कॉम्प्लेक्स में आईसीआईसीआई, आईडीबीआई, यूटीआई और सिटी बैंक जैसी कई देशी-विदेशी वित्तीय और व्यावसायिक कम्पनियों की बहुमंजिली इमारतें हैं।

इस विकास, अन्धाधुंध और बेलगाम विकास के लिए तटीय नियामक क्षेत्र 91 की अधिसूचना का खुला उल्लंघन किया गया, दलदली इलाके को मलबे से पाटा गया, जंगल साफ किया गया और नदी की मुख्य धारा को मोड़ दिया गया। राष्ट्रीय पर्यावरण प्रौद्योगिकी शोध संस्थान ने 1996 में कहा था कि बान्द्रा-कुर्ला कॉम्प्लेक्स का विकास इस क्षेत्र की पर्यावरण सम्पदा के लिए अपूरणीय क्षति है।

विडम्बना तो यह कि जिस समय मुम्बई महानगर विकास प्राधिकरण मीठी नदी घाटी के दलदली इलाके और जंगल की सैकड़ों एकड़ जमीन पर खुद ही अतिक्रमण कर रहा था, उसी समय अतिक्रमण हटाने के नाम पर कुर्ला क्षेत्र की झुग्गी-झोपड़ियों को बेमुरव्वत उजाड़ रहा था। जिस तटीय नियमन क्षेत्र की अधिसूचना का हवाला देकर पूरे महानगर की झुग्गी-झोपड़ियाँ उजाड़ी गयीं, उसी की धज्जी उड़ाते हुए ही मीठी नदी को पाट कर उस पर गैर कानूनी गगन चुम्बी इमारतें खड़ी की गयीं। जाहिर है देश में दो तरह का कानून है- एक अमीरों के लिए और दूसरा गरीबों के लिए।

## प्रतिरोध संघर्ष

दिसम्बर 2004 के बाद केवल चार महीनों में ही 70 हजार मकान ढा दिये गये। ऐसा विध्वंश और ऐसी नृशंसता इससे पहले कभी भी सुनने में नहीं आयी थी। नतीजा यह कि लाखों लोग बेघर हुए, उनके सिर पर कोई छत नहीं रही, बच्चे दर-दर की ठोकर खाते सड़कों पर दिन-रात गुजारने को मजबूर हुए तथा भारी संख्या में अकाल मौत, आत्महत्याएँ, रोजी-रोटी और जान-माल का नुकसान हुआ। कुल मिलाकर विपत्ति की कोई सीमा नहीं रही। एक तरफ जहाँ हजारों परिवारों पर बर्बर अत्याचार किया गया, वहीं समाज का एक तबका राज्य सरकार की इन कारगुजारियों की प्रशंसा में ताली बजा रहा था। मुख्य धारा का मीडिया जनता पर किये गये जुल्म, अन्याय और आपराधिक कृत्यों का समाचार देने के बजाय यह हिसाब लगाने और बताने में मशगूल था कि झुग्गीवासियों से 'मुक्त' करायी गयी जमीन की कीमत कितनी अधिक थी।

जनता ने इन अवैध कार्रवाइयों का जवाब खुदकुशी करके नहीं, बल्कि विरोध में आवाज उठा कर दिया। दिसम्बर 2004 से ही लोगों ने सड़क पर उतर कर विरोध शुरू किया जिसमें धरना, रैली, प्रदर्शन, सभा तथा मंत्रालयों और पार्टी मुख्यालयों का घेराव शामिल था। जिन औरतों ने कभी घर की दहलीज नहीं लाँघी थी, वे इन संघर्षों में सबसे अगली कतार में शामिल हुईं।

इन्हीं संघर्षों का नतीजा था कि मुम्बई उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश ने यह आदेश दिया कि लोगों से जमीन खाली करवाने के लिए समय सीमा तय करना गैर कानूनी है और नागरिकों को उचित मूल्य पर आवास मुहैय्या कराना सरकार की जिम्मेदारी है। इस काम के लिए मुख्य सचिव की अध्यक्षता में एक कमेटी का भी गठन किया गया। लेकिन इस सम्बन्ध में न्यायपालिका की ओर से अलग-अलग तरह की प्रतिक्रिया सामने आयी। 2006 में मुम्बई हाई कोर्ट ने क्रिकेट खिलाड़ियों के हक में दायर की गयी एक याचिका की सुनवाई करते हुए आदेश दिया कि आजाद मैदान में अनिश्चित कालीन धरना दे रहे झुग्गीवासियों से मैदान खाली करवाया जाय। अपने संवैधानिक और मानवीय अधिकारों के लिए लड़ने वालों की जगह अदालत ने क्रिकेट खिलाड़ियों के अधिकारों को कहीं ज्यादा अहमियत दी। नवउदारवादी दौर में ऐसे फैसलों का होना कोई आश्चर्य की बात नहीं। इसी तरह का एक अन्य मामला भी सामने आया, न्याय तंत्र को दस्तावेजी सबूतों के साथ यह बताया गया कि बिल्डरों और नगरपालिका अधिकारियों ने आवास के लिए निर्धारित जमीन पर गैरकानूनी रूप से विराट शॉपिंग मॉल का निर्माण किया है, लेकिन न्यायपालिका ने आज तक उसे ध्वस्त किये जाने का न्यायसम्मत आदेश नहीं दिया। लेकिन गरीबों के घर गिराने का आदेश देने की बारी आने पर उसने बिना पीड़ित लोगों को अपनी बात कहने का पर्याप्त समय दिये, आनन-फानन में आदेश जारी कर दिया। कोर्ट के आदेश से ही मीठी नदी की बाढ़ से मुम्बई को बचाने के बहाने उस क्षेत्र के गरीबों के घर उजाड़े गये और खाली की गयी जमीन को बड़े पूँजीपतियों

को सौंप दिया गया साथ ही, उसी क्षेत्र में सारे कानूनों को ताक पर रखते हुए नदी की घाटी पर भी अवैध कब्जा करके आलीशान भवनों का निर्माण किया गया।

मुम्बई और दूसरे तमाम शहरों में भी गरीबों के 10 गुणा 10 फुट के आश्रय को अतिक्रमण और अवैध बता कर उजाड़ दिया जाता है। जबकि उसी जगह पर देश के सभी कानूनों को दरकिनार करते हुए अभिजात और प्रभुत्वशाली लोगों के लिए आलिशान महल बनाये जाते हैं। मुम्बई में झोपड़पट्टी के निवासियों के लिए निर्धारित जमीन पर 10 से 40 करोड़ तक के अपार्टमेन्ट बनाये गये। उसी तरह दिल्ली में भी जमुना के किनारे की झुग्गी-झोपिड़ियों को उजाड़ कर वहाँ कॉमनवेल्थ खेलों के लिए फ्लैट बनाये गये। आज उन फ्लैटों की कीमत करोड़ों में है। एक तरफ मीडिया इन अवैध कार्रवाइयों को या तो नजरन्दाज करता है या उन्हें सही ठहराता है, जबकि गरीबों की झोपड़ियों को रौंदे जाने का आँख मूँदकर समर्थन करता है। संघर्ष के दौरान इन सभी सच्चाइयों का पर्दाफाश किया गया।

गरीबों के लिए सस्ते आवास बनाने के लिए सरकारें अक्सर पैसे की कमी का रोना रोती हैं। लेकिन सच्चाई क्या है? 2006-07 में जब मुम्बई में हजारों उजाड़े गये परिवार दर-दर की ठोकरें खा रहे थे तब शहरी विकास के मद में आये 1173 करोड़ रुपये में से सिर्फ 96 करोड़ ही महाराष्ट्र में खर्च हुए।

बच्चों के लिए रहने को घर, भरपेट भोजन और शिक्षा का इन्तजाम नहीं था, जबकि अरबों रुपये बिना खर्च किये हुए पड़े रह गये। जहाँ तक जमीन के आभाव की बात है, मुट्ठी भर लोगों के पास 15 हजार एकड़ जमीन है जबकि शहरी भूमि हदबन्दी कानून 1976 के अनुसार 500 वर्ग मीटर से अधिक जमीन रखना गैर कानूनी है। फिर सेज बनाने के लिए जबरन किसानों की जमीन अधिग्रहण करने वाली सरकार सीलिंग से फालतू जमीन जब्त करके उन पर गरीबों को क्यों नहीं बसाती? क्या इसमें कोई संदेह है कि हमारे देश के शासक किसके दोस्त और किसके दुश्मन हैं? मुट्ठी भर लोगों के स्वार्थ की पूर्ति के लिए बहुसंख्य मेहनतकश आबादी को नरक में धकेलना ही आज की पूँजीवादी सरकारों का धर्म हो गया है। न्याय, समता और लोकतंत्र के लिए संघर्ष के सिवा अब और कोई रास्ता नहीं।

**(घर बचाओ घर बनाओ आन्दोलन की मूल अंग्रेजी पुस्तिका -"हू आर द रियल 'एन्क्रोचर्स' इन मुम्बई" का हिन्दी रूपान्तर)** ❑

*गद्य कविता*

## राय जाहिर करने के बारे में

**-लू शुन**

मैनें सपना देखा कि मैं प्राथमिक विद्यालय की एक कक्षा में था। एक लेख लिखने की तैयारी कर रहा था और मैंने शिक्षक से पूछा कि कोई राय जाहिर करनी हो तो कैसे करें।

"यह तो कठिन काम है।" अपने चश्में के बाहर से मेरी ओर निहारते हुए उन्होंने कहा, "मैं तुम्हें एक कहानी सुनाता हूँ-

"एक परिवार में जब बेटा पैदा हुआ, तो पूरे घराने में खुशी की लहर दौड़ गयी। जब वह बच्चा एक महीने का हो गया, तो वे लोग उसे मेहमानों को दिखाने के लिए बाहर ले आये। जाहिर है कि उन्हें उन लोगों से शुभकामनाओं की उम्मीद थी।

"एक ने कहा- 'यह बच्चा धनवान होगा।' उसे लोगों ने हृदय से धन्यवाद दिया।

"एक ने कहा- 'यह बच्चा बड़ा होकर अफसर बनेगा।' उसे भी जवाब में लोगों की प्रशंसा मिली।

"एक ने कहा- 'यह बच्चा मर जायेगा।' उसके बाद पूरे परिवार ने मिल कर उसकी कस के धुनाई की।

"बच्चा मरेगा, यह तो अवश्यंभावी है, जबकि वह धनवान होगा या अफसर बनेगा, ऐसा कहना झूठ भी हो सकता है। फिर भी झूठ की प्रशंसा की जाती है, जबकि अपरिहार्य सम्भावना के बारे में दिये गये वक्तव्य पर मार पिटाई होती है। तुम..."

"मैं झूठी बात नहीं कहना चाहता। श्रीमान, और पिटना भी नहीं चाहता। तो मुझे क्या कहना चाहिए?"

"ऐसी स्थिति में कहो- 'आ हाहा! जरा इस बच्चे को तो देखो! मेरी तरफ से इसे... आ हाहा! मेरा मतलब आहाहा! हे, हे! हे, हे, हे, हे।

**8 जुलाई, 1925**